

वचन समुत्पद्यमानः सम्यग्दृष्टिस्तत्र विशिष्टवेदादिषु समुत्पद्यत इति गृह्यताम् ।
तिर्यगपर्याप्तेषु किन्न निरूपितमिति नाशङ्कनीयम्, तत्र प्रतिपक्षाभावतो गतार्थत्वात् ।

मनुष्यगतिप्रतिपादनार्थमाह—

मणुस्सा मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे

सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥ ८९ ॥

सुगममेतत् ।

तत्र शेषगुणस्थानसत्त्वावस्थाप्रतिपादनार्थमाह—

सम्माभिच्छाइट्ठि-संजदासंजद-संजदट्ठाणे णियमा पज्जत्ता

॥ ९० ॥

भवतु सर्वेषामेतेषां पर्याप्तत्वम्, नाहारशरीरमुत्थापयतां प्रमत्तानामनिष्पन्ना-
हारगतषट्पर्याप्तीनाम् । न पर्याप्तकर्मादथापेक्षया पर्याप्तोपदेशः, तदुदयसत्त्वा-

शंका— तिर्यच-अपर्याप्तोंमें गुणस्थानोंका निरूपण क्यों नहीं किया ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अपर्याप्त तिर्यचोंमें एक मिथ्यात्व गुणस्थानको छोड़कर
प्रतिपक्षरूप और कोई दूसरा गुणस्थान नहीं पाया जाता है, अतः विना कथन किये ही इसका
ज्ञान हो जाता है ।

विशेषार्थ— यहां अपर्याप्त तिर्यचोंसे लब्ध्यपर्याप्त तिर्यचोंका ग्रहण करना चाहिये ।
और लब्ध्यपर्याप्तकोंके एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है । अतः उनके विषयमें यहां पर
अधिक नहीं कहा गया है ।

अब मनुष्यगतिके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मनुष्य मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानोंमें पर्याप्त
भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ८९ ॥

इस सूत्रका अर्थ सरल है ।

मनुष्योंमें शेष गुणस्थानोंके सद्भावरूप अवस्थाके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र
कहते हैं—

मनुष्य सम्यग्मिथ्यादृष्टि, संयतासंयत और संयत गुणस्थानोंमें नियमसे पर्याप्तक
होते हैं ॥ ९० ॥

शंका— सूत्रमें बताया गये इन सभी गुणस्थानवालोंको पर्याप्तपना प्राप्त होओ, परंतु
जिनकी आहारक शरीरसंबन्धी छह पर्याप्तियां पूर्ण नहीं हुई हैं ऐसे आहारक शरीरको उत्पन्न
करनेवाले प्रमत्त गुणस्थानवर्ती जीवोंके पर्याप्तपना नहीं बन सकता है । यदि पर्याप्त नामकर्मके
उदयकी अपेक्षा आहारक शरीरको उत्पन्न करनेवाले प्रमत्तसंयतोंको पर्याप्तक कहा जावे, तो

विशेषतोऽसंयतसम्यग्दृष्टीनामपि अपर्याप्तत्वस्याभावापत्तेः । न च संयमोत्पत्त्यवस्था-
पेक्षया तदवस्थायां प्रमत्तस्य पर्याप्तत्वं घटते, असंयतसम्यग्दृष्टावपि तत्प्रसङ्गादिति ?
नैष दोषः, अवलम्बितद्रव्यार्थिकनयत्वात् । सोऽन्यत्र किमिति नावलम्ब्यत इति चेन्न,
तत्र निमित्ताभावात् । किमर्थमत्रावलम्ब्यत इति चेत्पर्याप्तैरस्य साम्यदर्शनं
तदवलम्बनकारणम् । केन साम्यमिति चेद् ? दुःखाभावेन । उपपातगर्भसम्मूर्च्छज-
शरीराण्याददानानामिव' आहारशरीरमाददानानां न दुःखमस्तीति पर्याप्तत्वं
प्रमत्तस्थोपचर्यत इति यावत् । पूर्वाभ्यस्तवस्तुविस्मरणमन्तरेण शरीरोपादानाद्वा
दुःखमन्तरेण पूर्वशरीरपरित्यागाद्वा प्रमत्तस्तदवस्थायां पर्याप्त इत्युपचर्यते ।

भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, पर्याप्तकर्मका उदय प्रमत्तसंयतोंके समान असंयत सम्यग्दृष्टियोंके
भी निर्वृत्यपर्याप्त अवस्थामें पाया जाता है, इसलिये वहां पर भी अपर्याप्तपनेका अभाव मानना
पड़ेगा । संयमकी उत्पत्तिरूप अवस्थाकी अपेक्षा प्रमत्तसंयतके आहारककी अपर्याप्त अवस्थामें
पर्याप्तपना बन जाता है यदि ऐसा कहा जावे सो भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि, इस प्रकार असंयत
सम्यग्दृष्टियोंके भी अपर्याप्त अवस्थामें (सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा) पर्याप्तपनेका प्रसंग
आ जायगा ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नयके अवलम्बनकी अपेक्षा
प्रमत्तसंयतोंको आहारक शरीरसंबन्धी छह पर्याप्तियोंके पूर्ण नहीं होने पर भी पर्याप्त कहा है ।

शंका— उस द्रव्यार्थिक नयका दूसरी जगह (विग्रहगतिसंबन्धी गुणस्थानोंमें)
आलम्बन क्यों नहीं लिया जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, वहां पर द्रव्यार्थिक नयके अवलम्बनके निमित्त नहीं
पाये जाते हैं ।

शंका— तो फिर यहां पर द्रव्यार्थिक नयका अवलम्बन किस लिये लिया जा रहा है ।

समाधान— आहारकसंबन्धी अपर्याप्त अवस्थाको प्राप्त हुए प्रमत्तसंयतकी
पर्याप्तकोंके साथ समानताका दिखाना ही यहां पर द्रव्यार्थिक नयके अवलम्बनका कारण है ।

शंका— इसकी दूसरे पर्याप्तकोंके साथ किस बातसे समानता है ?

समाधान— दुःखाभावकी अपेक्षा इसकी दूसरे पर्याप्तकोंके साथ समानता है ?
जिस प्रकार उपपातजन्म, गर्भजन्म या सम्मूर्च्छनजन्मसे उत्पन्न हुए शरीरोंकी धारण करनेवालोंके
दुःख होता है, उस प्रकार आहारशरीरकी धारण करनेवालोंके दुःख नहीं होता है, इसलिये
उस अवस्थामें प्रमत्तसंयत पर्याप्त है इस प्रकारका उपचार किया जाता है । अथवा, पहले
अभ्यास की हुई वस्तुके विस्मरणके विना ही आहारक शरीरका ग्रहण होता है, या दुःखके
विना ही पूर्व शरीर (औदारिक) का परित्याग होता है, अतएव प्रमत्तसंयत अपर्याप्त

निश्चयनयाश्रयणे तु पुनरपर्याप्तः' । एवं समुद्धातगतकेवलिनामपि वक्तव्यम् ।

मनुष्यविशेषस्य निरूपणार्थमाह—

एवं मणुस्स-पज्जत्ता ॥ ९१ ॥

पर्याप्तेषु नापर्याप्तत्वमस्ति, विरोधात् । ततः 'एवं पज्जत्ता' इति कथमेतद्वदत इति ? नैष दोषः, शरीरानिष्पत्त्यपेक्षया तदुपपत्तेः । कथं तस्य पर्याप्तत्वं ? न, द्रव्यार्थिकनयाश्रयणात् । ओदनः पच्यत इत्यत्र यथा तन्दुलानामेवौदनव्यपदेशस्तथाऽपर्याप्तावस्थायामप्यत्र पर्याप्तव्यवहारो न विरुद्धयत इति । पर्याप्तिनामकर्मोदयापेक्षया वा पर्याप्तता । एवं तिर्यक्ष्वपि वक्तव्यम् । सुगममन्यत् ।

अवस्थामें भी पर्याप्त है, इस प्रकारका उपचार किया जाता है । निश्चयनयका आश्रय करने पर तो वह अपर्याप्त ही है । इसी प्रकार समुद्धातगत केवलीके संबन्धमें भी कथन करना चाहिये ।

अब मनुष्यके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मनुष्य-सामान्यके कथनके समान मनुष्य पर्याप्त होते हैं ॥ ९१ ॥

शंका— पर्याप्तकोंमें अपर्याप्तपना तो बन नहीं सकता है, क्योंकि, इन दोनों अवस्थाओंका परस्पर विरोध है । इसलिये 'इसीप्रकार पर्याप्त होते हैं' यह कथन कैसे घटित होगा ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, शरीरकी अनिष्पत्तिकी अपेक्षा पर्याप्तकोंमें भी अपर्याप्तपना बन जाता है ।

शंका— जिसके शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं हुई है उसके पर्याप्तपना कैसे बनेगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा उसके भी पर्याप्तपना बन जाता है । भात पक रहा है, यहां पर जिस प्रकार चावलोंको भात कहा जाता है, उसी प्रकार जिसके सभी पर्याप्तियां पूर्ण होनेवाली हैं ऐसे जीवके अपर्याप्त अवस्थामें भी पर्याप्तपनेका व्यवहार विरोधको प्राप्त नहीं होता है । अथवा पर्याप्त नामकर्मके उदयकी अपेक्षा उनके पर्याप्तपना समझ लेना चाहिये । इसी प्रकार तिर्यचोंमें भी कथन करना चाहिये । शेष कथन सुगम है ।

विशेषार्थ— मनुष्य पर्याप्तकोंमें पर्याप्त और निर्वृत्यपर्याप्त इन दोनों प्रकारके

१ औदारिकाद्याः शुद्धास्तत्पर्याप्तकस्य, मिश्रास्त्वपर्याप्तकस्येति । तत्रोत्पत्तावौदारिकाद्यः कामंणेन, औदारिकशरीरिणश्च वैक्रियकाहारककरणकाले वैक्रियकाहारकाम्यां मिश्रो भवतीति । एवमौदारिकमिश्रः । तथा वैक्रियकमिश्रो देवाद्युत्पत्तौ कामंणेन, कृतवैक्रियस्य वौदारिकप्रवेशाद्द्वायामौदारिकेण । आहारकमिश्रस्तु साधिताहारककायप्रयोजनः पुनरौदारिकप्रवेशे औदारिकेणेति । स्था. ३ का. १३. (अभि. रा. को. जोग.)

मानुषीषु निरूपणार्थमाह—

मणुसिणीसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-ट्टाणे सिया
पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥९२॥

अत्रापि पूर्ववदपर्याप्तानां पर्याप्तव्यवहारः प्रवर्तयितव्यः । अथवा स्यादित्यर्थं
निपातः कथञ्चिदित्येतस्मिन्नर्थे' वर्तते, तेन स्यात्पर्याप्ताः पर्याप्तनामकर्मोदयाच्छरीर-
निष्पत्त्यपेक्षया वा । स्यादपर्याप्ताः शरीरानिष्पत्त्यपेक्षया इति वक्तव्यम् । सुगममन्यत् ।
तत्रैव शेषगुणविषयारेकापोहनार्थमाह—

सम्माभिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-संजद-ट्टाणे
णियमा पज्जत्तियाओ ॥ ९३ ॥

हुण्डावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृष्टयः किन्नोत्पद्यन्ते इति चेत्? नोत्पद्यन्ते ।

पुरुषवेदी मनुष्योंका अन्तर्भाव होता है, क्योंकि, आगममें जो मनुष्योंके चार भेद किये हैं
उनमेंसे जिनके पर्याप्त नामकर्मका उदय विद्यमान है ऐसे पुरुषवेदी मनुष्योंको मनुष्य पर्याप्त
कहा है । इस पर शंकाकारका कहना है कि जिनके पर्याप्तियां पूर्ण नहीं हुई हैं ऐसे अपर्याप्त-
कोंका पर्याप्तकोंमें अन्तर्भाव कैसे किया जा सकता है । इसी शंकाको ध्यानमें रखकर यहाँ
समाधान किया गया है ।

अब मनुष्यनियोंमें गुणस्थानोंके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं —

मनुष्यनियाँ मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त भी होती हैं और
अपर्याप्त भी होती हैं ॥ ९२ ॥

यहाँ पर भी पर्याप्त मनुष्योंके समान निर्वृत्त्यपर्याप्तकोंमें पर्याप्तपनेका व्यवहार कर
लेना चाहिये । अथवा, 'स्यात्' यह निपात कथञ्चित् अर्थमें रहता है । इसके अनुसार कथञ्चित्
पर्याप्त होते हैं, इसका यह तात्पर्य है कि पर्याप्त नामकर्मके उदयकी अपेक्षा अथवा शरीर-
पर्याप्तकी पूर्णताकी अपेक्षा पर्याप्त होते हैं । और कथञ्चित् अपर्याप्त होते हैं, इसका यह
तात्पर्य है कि शरीर पर्याप्तकी अपूर्णताकी अपेक्षा अपर्याप्त होते हैं । शेष कथन सुगम है ।

अब मनुष्यनियोंमें ही शेष गुणस्थानविषयक शंकाके दूर करनेके लिये सूत्र कहते हैं—
मनुष्यनियाँ सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत गुणस्थानोंमें
नियमसे पर्याप्तक होती हैं ॥ ९३ ॥

शंका— हुण्डावसर्पिणी कालके दोषसे स्त्रियोंमें सम्यग्दृष्टि जीव क्यों नहीं उत्पन्न
होते हैं ?

समाधान— उनमें सम्यग्दृष्टि जीव नहीं उत्पन्न होते हैं ।

शंभू— यह किस प्रमाणसे जाना जाता है ?

कुतोऽयसीयते? अस्मादेवार्षात् । अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृतिः^१ सिद्धचेदिति चेन्न, सवासस्त्वावप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः । भावसंयमस्तासां सवाससामप्य-
विरुद्ध इति चेत् ? न तासां भावसंयमोऽस्ति, भावासंयमाविनाभाविवस्त्राद्युपादानान्य-
थानुपपत्तेः । कथं पुनस्तासु चतुर्दश गुणस्थानानीति चेन्न, भावस्त्रीविशिष्टमनुष्यगतौ
तत्सत्त्वाविरोधात् । भाववेदो बादरकषायान्नोपर्यस्तीति न तत्र चतुर्दशगुणस्थानानां
सम्भव इति चेन्न, अत्र वेदस्य प्राधान्याभावात् । गतिस्तु प्रधाना, न साराद्विनश्यति ।
वेदविशेषणायां गतौ न तानि सम्भवन्तीति चेन्न, विनष्टेऽपि विशेषणे उपचारेण
तद्व्यपदेशमादधानमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात् । मनुष्यापर्याप्तेष्वपर्याप्तिप्रतिपक्षा-
भावतः सुगमत्वान्न तत्र वक्तव्यमस्ति ।

समाधान— इसी आर्षवचनसे जाना जाता है ।

शंका— तो इसी आर्षवचनसे द्रव्य-स्त्रियोंका मुक्ति जाना भी सिद्ध हो जायगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, वस्त्रसहित होनेसे उनके संयतासंयत गुणस्थान होता है, अतएव उनके संयमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है ।

शंका— वस्त्रसहित होते हुए भी उन द्रव्य-स्त्रियोंके भावसंयमके होनेमें कोई विरोध नहीं है ?

समाधान— उनके भाव संयम नहीं है, क्योंकि, अन्यथा, अर्थात् भाव संयमके मानने पर, उनके भाव असंयमका अविनाभावी वस्त्रादिकका ग्रहण करना नहीं बन सकता है ।

शंका— तो फिर स्त्रियोंमें चौदह गुणस्थान होते हैं यह कथन कैसे बन सकेगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, भावस्त्री अर्थात् स्त्रीवेद युक्त मनुष्यगतिमें चौदह गुणस्थानोंके सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका— बादरकषाय गुणस्थानके ऊपर भाववेद नहीं पाया जाता है, इसलिये भाववेदमें चौदह गुणस्थानोंका सद्भाव नहीं हो सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यहां पर अर्थात् गतिमार्गणामें वेदकी प्रधानता नहीं है, किंतु गति प्रधान है और वह पहले नष्ट नहीं होती है ।

शंका— यद्यपि मनुष्यगतिमें चौदह गुणस्थान संभव हैं । फिर भी उसे वेद विशेषणसे युक्त कर देने पर उसमें चौदह गुणस्थान संभव नहीं हो सकते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, विशेषणके नष्ट हो जाने पर भी उपचारसे उस विशेषण युक्त संज्ञाको धारण करनेवाली मनुष्यगतिमें चौदह गुणस्थानोंका सद्भाव होनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

मनुष्य अपर्याप्तियोंमें अपर्याप्तिका कोई प्रतिपक्षी नहीं होनेसे और उनका कथन सुगम होनेसे इस विषयमें कुछ अधिक कहने योग्य नहीं है । इसलिये इस संबन्धमें स्वतंत्ररूपसे नहीं कहा गया है ।

देवगतौ निरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

देवा मिच्छाद्दृष्टि-सासणसम्माद्दृष्टि असंजदसम्माद्दृष्टि-द्वाने
सियां पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥९४ ॥

अथ स्याद्विग्रहगतौ कर्मणशरीराणां न पर्याप्तिस्तदा पर्याप्तीनां षण्णां
निष्पत्तेरभावात् । न अपर्याप्तास्ते, आरम्भात्प्रभृति आ उपरमादन्तरालावस्थायाम-
पर्याप्तिव्यपदेशात् । न चानारम्भकस्य स व्यपदेशः, अतिप्रसङ्गात् । ततस्तृतीयमप्य-
वस्थान्तरं वक्तव्यमिति ? नैष दोषः, तेषामपर्याप्तेष्वन्तर्भावात् । नातिप्रसङ्गोऽपि,
कर्मणशरीरस्थितप्राणिनामिवापर्याप्तकैः सह सामर्थ्याभावोपपादैकान्तानुवृद्धियोगैर्ग-
त्यायुःप्रथमद्वित्रिसमयवर्तनेन च शेषप्राणिनां प्रत्यासत्तेरभावात् । ततोऽशेषसंसारिणा-
मवस्थाद्वयमेव नापरमिति स्थितम् ।

अब देवगतिये निरूपण करनेके लिये भागेका सूत्र कहते हैं—

देव मिच्छाद्दृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त भी
होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ९४ ॥

शंका— विग्रहगतिये कर्मण शरीर होता है, यह बात ठीक है । किंतु वहां पर
कर्मणशरीरवालोंके पर्याप्ति नहीं पाई जाती है, क्योंकि, विग्रहगतिके कालमें छह पर्याप्तियोंकी
निष्पत्ति नहीं होती है ? उसी प्रकार विग्रहगतिये वे अपर्याप्त भी नहीं हो सकते हैं, क्योंकि,
पर्याप्तियोंके आरम्भसे लेकर समाप्ति पर्यन्त मध्यकी अवस्थामें अपर्याप्ति यह संज्ञा दी गई है ।
परंतु जिन्होंने पर्याप्तियोंका आरम्भ ही नहीं किया है ऐसे विग्रहगतिसंबन्धी एक, दो और तीन
समयवर्ती जीवोंको अपर्याप्त संज्ञा नहीं प्राप्त हो सकती है, क्योंकि, ऐसा मान लेने पर अति-
प्रसंग दोष आता है । इसलिये यहाँ पर पर्याप्त और अपर्याप्तसे भिन्न तीसरी भी अवस्था
कहना चाहिये ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, ऐसे जीवोंका अपर्याप्तियोंमें ही अन्तर्भाव
किया गया है । और ऐसा मान लेने पर अतिप्रसंग दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, कर्मण-
शरीरमें स्थित जीवोंकी अपर्याप्तकोंके साथ सामर्थ्याभाव, उपपादयोगस्थान, एकान्तानुवृद्धियोग-
स्थान और गति तथा आयुसंबन्धी प्रथम, द्वितीय और तृतीय समयमें होनेवाली अवस्थाके द्वारा
जितनी समीपता पाई जाती है, उतनी शेष प्राणियोंकी नहीं पाई जाती है । इसलिये
कर्मणकाययोगमें स्थित जीवोंका अपर्याप्तकोंमें ही अन्तर्भाव किया जाता है । अतः संपूर्ण
प्राणियोंकी दो अवस्थाएँ ही होती हैं । इनसे भिन्न कोई तीसरी अवस्था नहीं होती है ।

शेषगुणस्य सत्त्वावस्थाप्रतिपादनार्थमाह—

सम्मामिच्छाइट्टि-ट्टाणे णियमा पज्जत्ता ॥ ९५ ॥

कथं ? तेन गुणेन सह तेषां मरणाभावात् । अपर्याप्तकालेऽपि सम्यग्मिथ्यात्व-

गुणस्योत्पत्तेरभावाच्च । नियमेऽभ्युपगम्यमाने एकान्तवादः प्रसजतीति चेन्न, अनेकान्त-
गर्भकान्तस्य सत्त्वाविरोधात् ।

देवादेशप्रतिपादनार्थमाह—

भवणवासिय-वाणवेंतर-जोइसिय-देवा' देवीओ सोधम्मीसाण-

कप्पवासिय-देवीओ च मिच्छाइट्टि-सासणसम्माइट्टि-ट्टाणे सिया
पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता, सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्ति-
याओ ॥ ९६ ॥

इसी गतिमें शेष गुणस्थानोंकी सत्ताके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

देव सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ९५ ॥

शंका— यह कैसे ?

समाधान— क्योंकि, तीसरे गुणस्थानके साथ उनका मरण नहीं होता है । तथा
अपर्याप्त कालमें भी सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानकी उत्पत्ति नहीं होती है ।

शंका— 'तृतीय गुणस्थानमें पर्याप्त ही होते हैं' इस प्रकार नियमके स्वीकार कर
लेने पर तो एकान्तवाद प्राप्त होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अनेकान्तगर्भित एकान्तवादके सद्भाव होनेमें कोई विरोध
नहीं आता है ।

अब देवगतिमें विशेष प्ररूपणाके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं —

भवनवासी, वानव्यन्तर और ज्योतिषी देव और उनकी देवियां तथा सौधर्म और
ऐशान कल्पवासिनी देवियां ये सब मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त
भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ९६ ॥

१ भवनेषु वसन्तीत्येवं शीला भवनवासिनः । विविधदेशान्तराणि येषां निवासास्ते व्यन्तराः । द्योतन-
स्वभावत्वाज्ज्योतिष्काः । स. सि. त. रा. वा ४. १०-१२. भवनेषु अधोलोकदेवावासविशेषेषु वस्तुं शीलमस्येति ।
अभि. रा. को. (भवणवासि) विविधं भवननगरावासरूपमन्तरं येषां ते व्यन्तराः । X X अथवा विगतमन्तरं
मनुष्येभ्यो येषां ते व्यन्तराः । तथाहि, मनुष्यानपि चक्रवर्तिवासुदेवप्रभृतीन् भृत्यवदुपचरन्ति केचिद्व्यन्तरा इति
मनुष्येभ्यो विगतान्तराः । यदि वा विविधमन्तरं शैलान्तरं कन्दरान्तरं वनान्तरं वा आश्रयरूपं येषां ते
व्यन्तराः । प्राकृतत्वाच्च सूत्रे 'वाणमन्तरा' इति पाठः । यदि वानमन्तरा इति पदसंस्कारः, तत्रेयं व्युत्पत्तिः,
वनानामन्तराणि वनान्तराणि, तेषु भवा वानमन्तराः । पृषोदरादित्वादुभयपदपदान्तरालवर्तिमकारागमः ।

उभयगुणोपलक्षितजीवानां तत्रोत्पत्तेरुभयत्रापि तदस्तित्वं सिद्धम् ।
अन्यत्सुगमम् ।

तत्रानुत्पद्यमानगुणस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

सम्मामिच्छाइट्टि-असंजदसम्माम्हाइट्टिहाणे णियमा पज्जत्ता
णियमा पज्जत्तियाओ ॥ ९७ ॥

भवतु सम्यग्मिथ्यादृष्टेस्तत्रानुत्पत्तिः, तस्य तद्गुणेन मरणाभावात्, कित्वेत्तन्न घटते यदसंयतसम्यग्दृष्टिर्मरणवांस्तत्र नोत्पद्यत इति? न, जघन्येषु तस्योत्पत्तेरभावात् । नारकेषु तिर्यक्षु च कनिष्ठेषूपद्यमानस्तत्र^१ तेभ्योऽधिकेषु किमिति नोत्पद्यत^२ इति चेन्न, मिथ्यादृष्टीनां प्राग्बद्धायुष्काणां पश्चादात्तसम्यग्दर्शनानां नारकाद्युत्पत्तिप्रतिबन्धनं प्रति सम्यग्दर्शनस्यासामर्थ्यात् । तद्वद्वेष्वपि किन्न स्यादिति चेत्सत्यमिष्टत्वात् । तथा च

इन दोनों गुणस्थानोंसे युक्त जीवोंकी पूर्वोक्त देव और देवियोंमें उत्पत्ति होती है, अतएव उन दोनों गुणस्थानोंमें पर्याप्त और अपर्याप्तरूपसे उनका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है । शेष कथन सुगम है ।

उक्त देव और देवियोंकी अपर्याप्त अवस्थामें नहीं होनेवाले गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पूर्वोक्त देव नियमसे पर्याप्त होते हैं और पूर्वोक्त देवियां नियमसे पर्याप्त होती हैं ॥ ९७ ॥

शंका— सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवकी उक्त देव और देवियोंमें उत्पत्ति मत होओ, यह ठीक है, क्योंकि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके साथ जीवका मरण नहीं होता है । परंतु यह बात नहीं बनती है कि मरनेवाला असंयतसम्यग्दृष्टि जीव उक्त देव और देवियोंमें उत्पन्न नहीं होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, सम्यग्दृष्टिकी जघन्य देवोंमें उत्पत्ति नहीं होती है ।

शंका— जघन्य अवस्थाको प्राप्त नारकियोंमें और तिर्यच्चोंमें उत्पन्न होनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव उनसे उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त भवनवासी देव और देवियोंमें तथा कल्पवासिनी देवियोंमें क्यों नहीं उत्पन्न होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जो आयुर्कर्मका बन्ध करते समय मिथ्यादृष्टि थे और जिन्होंने तदनन्तर सम्यग्दर्शनको ग्रहण किया है ऐसे जीवोंकी नरकादि गतिमें उत्पत्तिके रोकनेकी सामर्थ्य सम्यग्दर्शनमें नहीं है ।

प्रज्ञा. १ (पद. अभि. रा. को. वाणमंतर) द्योतन्ते इति ज्योतीषि विमानानि, तन्निवासिनो ज्योतिष्काः ।
उत्त. २ अ. । ज्योतीषि विमानविशेषाः, तेषु भवा ज्योतिष्काः । स्था. ५ ठा. १ उ. (अभि. रा. को.—
ज्योतिष्क, ज्योतिष्क.) १ मु. धूत्पद्यमानास्तत्र । २ मु. नोत्पद्यन्त ।

भवनवास्यादिष्वप्यसंयतसम्यग्दृष्टेरुत्पत्तिरास्कन्देदिति चेन्न, सम्यग्दर्शनस्य बद्धायुषां प्राणिनां तत्तद्गत्यायुःसामान्येनाविरोधिनस्तत्तद्गतिविशेषोत्पत्तिविरोधित्वोपलम्भात् तथा च भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्बिषिकपृथ्वीषट्कस्त्रीनपुंसक-विकलैकेन्द्रिय^१लब्ध्यपर्याप्तकर्मभूमिजतिर्यक्षु चोत्पत्त्या विरोधोऽसंयतसम्यग्दृष्टेः सिद्धचेदिति तत्र ते नोत्पद्यन्ते । सुगममन्यत् ।

शेषदेवेषु गुणावस्थाप्रतिपादनार्थं वक्ष्यति—

सोधम्मीसाण-प्पहुडि जाव उवरिम-उवरिम-गेवज्ज^२ ति विमाणवासिय^३-देवेषु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-असंजदसम्मा-इट्ठिट्ठाने सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥ ९८ ॥

शंका— सम्यग्दृष्टि जीवोंकी जिस प्रकार नरकगति आदिमें उत्पत्ति होती है उसी प्रकार देवोंमें क्यों नहीं होती है ?

समाधान— यह कहना ठीक है, क्योंकि, यह बात इष्ट ही है ।

शंका— यदि ऐसा है तो भवनवासी आदिमें भी असंयतसम्यग्दृष्टि जीवकी उत्पत्ति प्राप्त हो जायगी ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जिन्होंने पहले आयुकर्मका बन्ध कर लिया है ऐसे जीवोंके सम्यग्दर्शनका उस उस गतिसंबन्धी आयुसामान्यके साथ विरोध न होते हुए भी उस उस गतिसंबन्धी विशेषमें उत्पत्तिके साथ विरोध पाया जाता है । ऐसी अवस्थामें भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्बिषिक देवोंमें, नीचेके छह नरकोंमें, सब प्रकारकी स्त्रियोंमें, प्रथम नरकके बिना सब प्रकारके नपुंसकोंमें, विकलत्रयोंमें, एकेन्द्रियोंमें लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंमें और कर्मभूमिज तिर्यचोंमें असंयतसम्यग्दृष्टिका उत्पत्तिके साथ विरोध सिद्ध हो जाता है । इसलिये इतने स्थानोंमें सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होते हैं । शेष कथन सुगम है ।

शेष देवोंमें गुणस्थानोंकी अवस्थितिके बतलानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सौधर्म और ऐशान स्वर्गसे लेकर उपरिम ग्रैवेयकके उपरिम भाग पर्यन्त विमानवासी देवोंसंबन्धी मिथ्यादृष्टि सासादनसम्यग्दृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें जीव पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ९८ ॥

१ मु. विकलेन्द्रिय—

२ लोकपुरुषस्य ग्रीवास्थानीयत्वात् ग्रीवाः । ग्रीवासु भवानि ग्रैवेयकाणि विमानानि । तत्साहचर्यात् इन्द्रा अपि ग्रैवेयकाः । त. रा. वा. ४. १९. ग्रीवेव ग्रीवा लोकपुरुषस्य त्रयोदशरज्जुपरिवत्तिप्रदेशः तन्निविष्ट-तयातिभ्राजिष्णुतया च तदाभरणभूतादौ ग्रैवेयका देशवासाः, तन्निवासिनो देवा अपि ग्रैवेयकाः । उक्त. ३६. अ. (अभि. रा. को. गेविज्जक.)

३ विशेषेणात्मस्थान् सुकृतिनो मानयन्तीति विमानानि, विमानेषु भवा वैमानिकाः । स. सि., त. रा. वा. ४. १६. विविधं मन्यन्ते उपभुज्यन्ते पुण्यवद्भिर्जीवैरिति विमानानि । तेषु भवाः वैमानिकाः । से किं तं वेमाणिया ? वेमाणिया दुविहा पणत्ता, तं जहा कप्पोपगा य कप्पाईया य । × × कल्प आचारः, स चेह

भवत्वत्रोभयावस्थासु गुणत्रयस्यास्तित्वम्^१, तस्य तेषूत्पत्तिं प्रति विरोधासिद्धेः। सनत्कुमारादुपरि न स्त्रियः समुत्पद्यन्ते, सौधर्मादाविव तदुत्पत्त्यप्रतिपादनात्। तत्र स्त्रीणामभावे कथं तेषां देवानामनुपशान्तान्तस्तापानां^२ सुखमिति चेन्न, तत्स्त्रीणां सौधर्मकल्पोपपत्तेः। तर्हि तत्रापि स्त्रीणामस्तित्वभिधातव्यमिति चेन्न, अन्यत्रोत्पन्ना-
नामन्यलेश्यायुर्बलानां स्त्रीणां तत्र सत्त्वविरोधात्। तत्र भवनवासिनो व्यन्तरज्योतिष्काः
सौधर्मज्ञानदेवाश्च मनुष्या इव कायप्रवीचाराः। प्रवीचारो मंथुनसेवनम्, काये
प्रवीचारो येषां ते कायप्रवीचाराः। सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः स्पर्शप्रवीचाराः, तत्रतनदेवा
देवाङ्गनास्पर्शनमात्रादेव परां प्रीतिमुपलभन्ते इति यावत्। तथा देव्योऽपि। यतो
ब्रह्मब्रह्मोत्तररान्तवकापिष्टेषु देवाः दिव्याङ्गनाश्रृङ्गाराकारविलासचतुरमनोज्ञवेष-

शंका— सौधर्म स्वर्गसे लेकर उपरिम ग्रंवेयकके उपरिम भाग तकके देवोंकी पर्याप्त
और अपर्याप्त इन दोनों अवस्थाओंमें प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ गुणस्थानोंका अस्तित्व पाया
जाता है, यह कहना तो ठीक है, क्योंकि, उन तीन गुणस्थानोंकी उक्त देवोंमें उत्पत्तिके प्रति
विरोध नहीं है। किंतु सनत्कुमार स्वर्गसे लेकर ऊपर स्त्रियाँ उत्पन्न नहीं होती हैं, क्योंकि,
सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें देवांगनाओंके उत्पन्न होनेका जिस प्रकार कथन किया गया है,
उस प्रकार आगेके स्वर्गोंमें उनकी उत्पत्तिका कथन नहीं किया गया है। इसलिये वहां स्त्रियोंके
अभाव रहने पर, जिनका स्त्रीसंबन्धी अन्तस्ताप शान्त नहीं हुआ है ऐसे देवोंके उनके बिना सुख
कैसे हो सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, सनत्कुमार आदि कल्प-संबन्धी स्त्रियोंकी सौधर्म और
ऐशान स्वर्गमें उत्पत्ति होती है।

शंका— तो सनत्कुमार आदि कल्पोंमें भी स्त्रियोंके अस्तित्वका कथन करना चाहिये?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जो दूसरी जगह उत्पन्न हुई हैं, तथा जिनकी लेश्या,
आयु और बल सनत्कुमारादि कल्पोंमें उत्पन्न हुए देवोंसे भिन्न प्रकारके हैं ऐसी स्त्रियोंका
सनत्कुमारादि कल्पोंमें उत्पत्तिकी अपेक्षा अस्तित्व होनेमें विरोध आता है।

उन देवोंमें भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देव तथा सौधर्म और ऐशान कल्पवासी
देव मनुष्योंके समान शरीरसे प्रवीचार करते हैं। मंथुनसेवनको प्रवीचार कहते हैं। जिनका
कायमें प्रवीचार होता है उन्हें कायसे प्रवीचार करनेवाले कहते हैं। सनत्कुमार और माहेन्द्र
कल्पमें देव स्पर्शसे प्रवीचार करते हैं। अर्थात् इन दोनों कल्पोंमें रहनेवाले देव देवांगनाओंके
स्पर्शमात्रसे ही अत्यन्त प्रीतिको प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार वहांकी देवियां भी देवोंके स्पर्शमात्रसे
अत्यन्त प्रीतिको प्राप्त होती हैं। जिस कारण ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, रान्तव और कापिष्ट कल्पोंमें रहनेवाले
देव अपनी देवांगनाओंके श्रृंगार, आकार, विलास, प्रशस्त तथा मनोज्ञ वेष तथा रूपके अवलोकन

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशदिव्यवहाररूपस्तमुपगाः प्राप्ताः कल्पोपगाः सौधर्मज्ञानादिदेवलोकनिवासिनः। यथोक्त-
रूपं कल्पमतीताः अतिक्रान्ताः कल्पातीताः। प्रज्ञा. १ पद. (अभि. रा. को. वेमाणिय.)

रूपालोकमात्रादेव परं सुखमवाप्नुवन्ति ततस्ते रूपप्रवीचाराः । यतः शुक्रमहाशुक्रशतार-
सहस्रारेषु देवाः देवाङ्गनानां मधुरसङ्गीतमृदुहसितललितकथितभूषणरवश्रवणमात्रादेव
परां प्रीतिमास्कन्दन्ति ततस्ते शब्दप्रवीचाराः । आनतप्राणतारणाच्युतकल्पेषु देवाः यतः
स्वाङ्गनामनःसङ्कल्पमात्रादेव परं सुखमवाप्नुवन्ति' ततस्ते मनःप्रवीचाराः । प्रवीचारो
वेदनाप्रतीकारः । वेदनाभावाच्छेषाः देवाः अप्रवीचाराः अनवरतसुखा इति यावत् ।

सम्यग्मिथ्यादृष्टिस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

सम्मामिच्छाइट्टि-ट्टाणे णियमा पज्जत्ता ॥ ९९ ॥

सुगमत्वान्नात्र वक्तव्यमस्ति ।

शेषदेवेषु गुणस्थानस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

अणुदिस-अणुत्तर-विजय-वइजयंत-जयंतावराजितसव्वट्टु-

सिद्धिविमाणवासिय-देवा असंजदसम्माइट्टि-ट्टाणे सिया पज्जत्ता
सिया अपज्जत्ता ॥ १०० ॥

मात्रसे ही परम सुखको प्राप्त होते हैं इसलिये वे रूपसे प्रवीचार करनेवाले हैं । जिस कारण
शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार कल्पोंमें रहनेवाले देव देवांगनाओंके मधुर संगीत, कोमल
हास्य, ललित शब्दोच्चार और भूषणोंके शब्द सुनने मात्रसे ही परम प्रीतिको प्राप्त होते हैं,
इसलिये वे शब्दसे प्रवीचार करनेवाले हैं । जिस कारण आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्पोंमें
रहनेवाले देव अपनी स्त्रीका मनमें संकल्प करने मात्रसे ही परम सुखको प्राप्त होते हैं, इसलिये
वे मनसे प्रवीचार करनेवाले हैं । वेदनाके प्रतीकारको प्रवीचार कहते हैं । उस वेदनाका अभाव
होनेसे नव ग्रंथेयकसे लेकर ऊपरके सभी देव प्रवीचाररहित हैं अर्थात् निरन्तर सुखी हैं ।

अब सम्यग्मिथ्यादृष्टि देवोंके स्वरूपके निर्णय करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें देव नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ९९ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम होनेसे यहां पर अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है ।

अब शेष देवोंमें गुणस्थानोंके स्वरूपके निर्णय करनेके लिये सूत्र कहते हैं —

नव अनुदिशोंमें और विजय, वंजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पांच
अनुत्तर विमानोंमें रहनेवाले देव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त
भी होते हैं ॥ १०० ॥

पञ्चानामेव नामान्यभ्यधादन्तदीपकार्थम् । ततः शेषस्वर्गनामान्यपि वक्तव्यानि । तानि च यथावसरं वक्ष्यामः । एवं योगनिरूपणावसर एव चतसृषु गतिषु पर्याप्तापर्याप्तकालविशिष्टासु सकलगुणस्थानानामभिहितमस्तित्वम् । शेषमार्गणासु अयमर्थः किमिति नाभिधीयत इति चेत् ? नोच्यते, अनेनैव गतार्थत्वाद् गतिचतुष्टयव्यतिरिक्तमार्गणाभावात् ।

वेदविशिष्टगुणस्थाननिरूपणार्थमाह—

वेदाणुवादेण अत्थि इत्थिवेदा पुरिसवेदा णवुंसयवेदा

अवगदवेदा चेदि ॥ १०१ ॥

दोषैरात्मानं परं च स्तृणाति छादयतीति स्त्री, स्त्री चासौ वेदश्च स्त्रीवेदः, स एषामस्तीति स्त्रीवेदाः । अथवा पुरुषं स्तृणाति आकाङ्क्षतीति स्त्री पुरुषकाङ्क्षेत्यर्थः । स्त्रियं विन्दतीति स्त्रीवेदः । अथवा वेदनं वेदः, स्त्रियो वेदः स्त्रीवेदः । उक्तं च—

ये पांच विमान सबसे अतमें हैं इस बातके प्रगट करनेके लिये पांचों ही विमानोंके नाम कहे गये हैं, इसलिये शेष स्वर्गोंके नाम भी कहने चाहिये । परंतु उनका वर्णन यथावसर करेंगे ।

इस प्रकार योगमार्गणाके निरूपण करनेके अवसर पर ही पर्याप्त और अपर्याप्त काल युक्त चारों गतियोंमें संपूर्ण गुणस्थानोंकी सत्ता बतला दी गई ।

शंका— शेष मार्गणाओंमें यह विषय क्यों नहीं कहा जाता है ?

समाधान— नहीं कहते हैं, क्योंकि, इसी कथनसे शेष मार्गणाओंमें इस विषयका ज्ञान हो जाता है, क्योंकि, चारों गतियोंको छोड़कर अन्य मार्गणाएँ नहीं पाई जातीं ।

अब वेदसहित गुणस्थानोंके निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

वेदमार्गणाके अनुवादसे स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद और अपगतवेदवाले जीव होते

हैं ॥ १०१ ॥

जो दोषोंसे स्वयं अपनेको और दूसरेको आच्छादित करती है उसे स्त्री कहते हैं और स्त्रीरूप जो वेद है उसे स्त्रीवेद कहते हैं । वह स्त्रीवेद जिनके पाया जाता है वे स्त्रीवेदी कहलाते हैं । अथवा, जो पुरुषकी आकांक्षा करती है उसे स्त्री कहते हैं, जिसका अर्थ पुरुषकी चाह करनेवाली होता है । जो अपनेको स्त्रीरूप अनुभव करता है उसे स्त्रीवेद कहते हैं । अथवा वेदन करनेको वेद कहते हैं और स्त्रीके वेदको स्त्रीवेद कहते हैं । कहा भी है—

उपपातो जन्मानुत्तरोपपातः । भ. ६. श. ६. उ. अत्थि ण भंते अणुत्तरोववाइया देवा । हुंता । अत्थि । से केणट्ठेणं भंते ? एवं वुच्चइ अणुत्तरोववाइया देवा ? गोयमा । अणुत्तरोववाइयाणं अणुत्तरा सद्दा, अणुत्तरा रुवा, जाव अणुत्तरा फासा, से तेणट्ठेणं गोयमा । एवं वुच्चइ जाव अणुत्तरोववाइया देवा । भ. १४ श. ७. उ. (अभि. रा. को. अणुत्तरोववाइय.)

१ मु. वेदश्च स्त्रीवेदः । अथवा ।

छादेदि सयं दोसेण यदो छादइ परं हि दोसेण ।

छादणसीला जम्हा तम्हा सा वण्णिणा इत्थी^१ ॥ १७० ॥

पुरुगुणेषु पुरुभोगेषु च शंते स्वपितीति पुरुषः । सुषुप्तपुरुषवदनवगत^२-
गुणोऽप्राप्तभोगश्च यदुदयाज्जीवो भवति स पुरुषः अङ्गनाभिलाष इति यावत् ।
पुरुगुणं कर्म शंते करोतीति वा पुरुषः । कथं स्यभिलाषः पुरुगुणं कर्म कुर्यादिति
चेन्न, तथाभूतसामर्थ्यानुविद्धजीवसहचरितत्वादुपचारेण जीवस्य तस्य तत्कर्तृत्वा^३-
भिधानात् । तस्य वेदः पुंवेदः । उक्तं च—

पुरु-गुण-भोगे सेदे करेदि लोगम्हि पुरुगुणं कम्मं ।

पुरु उत्तमो य जम्हा तम्हा सो वण्णिदो पुरिसो^४ ॥ १७१ ॥

न स्त्री न पुमान्पुंसकः, उभयाभिलाष इति यावत् । उक्तं च—

जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान और असंयम आदि दोषोंसे अपनेको आच्छादित करती है
और मधुर संभाषण, कटाक्ष-विक्षेप आदिके द्वारा जो दूसरे पुरुषोंको भी अज्ञह्य आदि दोषोंसे
आच्छादित करती है, उसको आच्छादनशील होनेके कारण स्त्री कहा है ॥ १७० ॥

जो उत्कृष्ट गुणोंमें और उत्कृष्ट भोगोंमें शयन करता है उसे पुरुष कहते हैं । अथवा,
जिस कर्मके उदयसे जीव, सोते हुए पुरुषके समान गुणोंको नहीं जानता है और भोगोंको
प्राप्त नहीं करता है उसे पुरुष कहते हैं । अर्थात् स्त्रीसंबन्धी अभिलाषा जिसके पाई जाती है
उसे पुरुष कहते हैं । अथवा, जो श्रेष्ठ गुणयुक्त कर्म करता है वह पुरुष है ।

शंका— जिसके स्त्रीविषयक अभिलाषा पाई जाती है वह उत्तम गुणयुक्त कर्म कैसे
कर सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, उत्तम गुणयुक्त कर्मको करनेरूप सामर्थ्यसे युक्त जीवके
सहचरितपनेकी अपेक्षा वह उत्तम कर्मको करता है ऐसा कथन उपचारसे किया है । कहा
भी है—

जो उत्तम गुण और उत्तम भोगोंमें सोता है अथवा जो लोकमें उत्तम गुणयुक्त कार्य
करता है और जो उत्तम है उसे पुरुष कहा है ॥ १७१ ॥

जो न स्त्री है और न पुरुष है उसे नपुंसक कहते हैं, अर्थात् जिसके स्त्री और पुरुष-
विषयक दोनों प्रकारकी अभिलाषा पाई जाती है उसे नपुंसक कहते हैं । कहा भी है—

१ प्रा. पं. १, १०५ । गो. जी. २७४. नयतः मृदुभाषितस्निग्धविलोकनानुकुलवर्तनादिकुशल-
व्यापारैः । जी. प्र. टी. २ मु. वदनगत । ३ मु. जीवस्य तत्कर्तृत्वा

४ प्रा. पं. १, १०६ । गो. जी. २७३. पुरुगुणे सम्यग्ज्ञानाधिकगुणसमूहे । पुरुभोगे नरेन्द्रनागेन्द्र-
देवेन्द्राद्यधिकभोगचये । पुरुगुणं कर्म धर्मार्थकाममोक्षलक्षणपुरुषार्थसाधनरूपदिव्यानुष्ठानं । पुरुत्तमे परमेष्ठिपदे ।
जी. प्र. टी. ५ मु. पुंसकमुभं ।

णेवित्थी णेव पुमं णवुंसओ उभय-लिंग-वदिरित्ति ।

इट्टावाग^१-समाणग-वेयण-गरुओ कलुस चित्तो^२ ॥ १७२ ॥

अपगतास्त्रयोऽपि वेदसंतापा येषां तेऽपगतवेदाः । प्रक्षीणान्तर्दाहा इति यावत् ।
सर्वत्र सन्तीत्यभिसम्बन्धः कर्तव्यः । उक्तं च—

कारिस-तणिट्टावागग्गि^३-सरिस-परिणाम-वेयणुम्मुक्का ।

अवगय-वेदा जीवा सग-संभवणंत-वर-सोक्खा^४ ॥ १७३ ॥

वेदवतां जीवानां गुणस्थानादिषु सत्त्वप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

इत्थिवेदा पुरिसवेदा असण्णिमिच्छाइट्टि-प्पहुडि जाव
अणियट्टि चि ॥ १०२ ॥

उभयोर्बेदयोरक्रमेणैकस्मिन् प्राणिनि सत्त्वं प्राप्नोतीति चेन्न, विरुद्धयोरक्रमेणै-

जो न स्त्री है और न पुरुष है, किंतु स्त्री और पुरुषसंबन्धी दोनों प्रकारके लिंगोंसे रहित है, अवाकी अग्निके समान तीव्र वेदनासे युक्त है और सर्वदा स्त्री और पुरुष विषयक मैथुनकी अभिलाषासे उत्पन्न हुई वेदनासे जिसका चित्त कलुषित है उसे नपुंसक कहते हैं ॥ १७२ ॥

जिनके तीनों प्रकारके वेदोंसे उत्पन्न होनेवाला संताप (अन्तरंग दाह) दूर हो गया है वे अपगतवेद जीव हैं ।

सूत्रमें कहे गये सभी पदोंके साथ 'सन्ति' पदका संबन्ध कर लेना चाहिये । कहा भी है—

जो कारीष (कण्डेकी) अग्नि, तृणाग्नि और इष्टापाकाग्नि (अवेकी अग्नि) के समान परिणामोंसे उत्पन्न हुई वेदनासे रहित हैं और अपनी आत्मासे उत्पन्न हुए अनन्त और उत्कृष्ट सुखके भोक्ता हैं उन्हें वेदरहित जीव कहते हैं ॥ १७३ ॥

अब वेदोंसे युक्त जीवोंके गुणस्थान आदिकमें अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

स्त्रीवेद और पुरुषवेदवाले जीव असंज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक होते हैं ॥ १०२ ॥

शंका— इस प्रकार तो दोनों वेदोंका एकसाथ एक जीवमें अस्तित्व प्राप्त हो जायगा?

१ मु. इट्टावाग ।

२ प्रा. पं. १, १०७ । गो. जी. २७५. तथापि स्त्रीपुरुषाभिलाषरूपतीव्रकामवेदनालक्षणो भावनं-पुसकवेदोऽस्तीति आचार्यस्य तात्पर्यं ज्ञातव्यं । जी. प्र. टी. ३ मु. तणिट्टावागग्गि ।

४ प्रा. पं. १, १०८ । गो. जो. २७६. यद्यपि अपगतवेदानिवृत्तिकरणादीनां वेदोदयजनितकाम-वेदनारूपसंक्लेशाभावः तथापि गुणस्थानतीतमुक्तात्मनां स्वात्मतोत्थसुखसद्भावः ज्ञानादिगुणसद्भाववद्दृशितः । परमार्थवृत्त्या तु अपगतवेदानामेषामपि शानोपयोगस्वास्थ्यलक्षणपरमानंदो जीवस्वभावोऽस्तीति निश्चेतव्यः । जी. प्र. टी.

कस्मिन् सत्त्वविरोधात् । कथं पुनस्तयोस्तत्र सत्त्वमिति चेद्भिन्नजीवद्रव्याधारतया पर्यायेणैकद्रव्याधारतया च । तत्र न^१ नपुंसकवेदस्याभावः, तत्र द्वावेव वेदौ भवत इत्यवधारणाभावात् । तत्कुतोऽवसीयत इति चेत् ? 'तिरिक्खा ति-वेदा असण्णिपिंच-द्वियप्पहुडि जाव संजदासंजदा त्ति । मणुस्सा ति-वेदा मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव अणियट्ठि त्ति' एतस्मादार्षात् । सुगममन्यत् ।

नपुंसकवेदसत्त्वप्रतिपादनार्थमाह—

णवुंसयवेदा एइंदिय-प्पहुडि जाव अणियट्ठि त्ति ॥ १०३ ॥

एकेन्द्रियाणां न द्रव्यवेद उपलभ्यते, तदनुपलब्धौ कथं तस्य तत्र सत्त्वमिति

समाधान— नहीं, क्योंकि, विरुद्ध दो धर्मोंका एकसाथ एक जीवमें सद्भाव होनेमें विरोध आता है ।

शंका— तो फिर नववें गुणस्थानतक इन दोनों वेदोंकी एकसाथ सत्ता कैसे बनेगी ?

समाधान— भिन्न भिन्न जीवोंके आधारपनेकी अपेक्षा और पर्यायरूपसे एक जीवद्रव्यके आधारपनेकी अपेक्षा नववें गुणस्थानतक इन दोनों वेदोंकी सत्ता बन जाती है । अर्थात् एक कालमें भी नाना जीवोंमें अनेक वेद पाये जा सकते हैं और एक जीवमें भी पर्यायकी अपेक्षा कालभेदसे अनेक वेद पाये जा सकते हैं ।

नववें गुणस्थानतक नपुंसक वेदका अभाव नहीं है, क्योंकि, नववें गुणस्थानतक दो ही वेद होते हैं ऐसे अवधारणका (सूत्रमें) अभाव है ।

शंका— यह बात किस प्रमाणसे जानी जाय कि नववें गुणस्थानतक तीनों वेद होते हैं ?

समाधान— 'असंज्ञी पंचेन्द्रियसे लेकर संयतासंयत गुणस्थानतक तिर्यंच तीनों वेदवाले होते हैं' और 'मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थानतक मनुष्य तीनों वेदोंसे युक्त होते हैं' इस आगम-वचनसे यह बात जानी जाती है कि नववें गुणस्थानतक तीनों वेद हैं । शेष कथन सुगम है ।

अब नपुंसकवेदके सत्त्वके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

एकेन्द्रियसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थानतक नपुंसकवेदवाले जीव पाये जाते हैं ॥ १०३ ॥

शंका— एकेन्द्रिय जीवोंके द्रव्यवेद नहीं पाया जाता है, इसलिये द्रव्यवेदकी उपलब्धि नहीं होने पर एकेन्द्रिय जीवोंमें नपुंसक वेदका अस्तित्व कैसे बतलाया ?

१ ब. न तत्र

२ वेदानुवादेन त्रिषु वेदेषु मिथ्यादृष्ट्याद्यनिवृत्तिबादरान्तानि सन्ति । स. सि. १. ८. थावर-कायप्पहुदी संढो सेसा असण्णिआदी य । अणियट्ठिस्स य पढमो भागो त्ति जिणेहि णिट्ठं ॥ गो. जी. ३८५.

चेन्माभूत्तत्र द्रव्यवेदः, तस्यात्र प्राधान्याभावात् । अथवा नानुपलब्ध्या तदभावः सिद्धयेत्, सकलप्रमेयव्याप्युपलम्भबलेन तत्सिद्धिः । न स छद्मस्थेऽवस्ति । एकेन्द्रियाणामप्रतिपन्नस्त्रीपुरुषाणां कथं स्त्रीपुरुषविषयाभिलाषा' घटत इति चेन्न, अप्रतिपन्न-स्त्रीवेदेन भूमिगृहान्तर्वृद्धिमुपगतेन यूना पुरुषेण व्यभिचारात् । सुगममन्यत् ।

अपगतवेदजीवप्रतिपादनार्थमाह—

तेण परमवगदवेदा चेदि^२ ॥ १०४ ॥

समाधान— एकेन्द्रियोंमें द्रव्यवेद मत होओ, क्योंकि, उसकी यहां पर प्रधानता नहीं है । अथवा, द्रव्यवेदकी एकेन्द्रियोंमें उपलब्धि नहीं होती है, इसलिये उसका अभाव नहीं सिद्ध होता है । किंतु संपूर्ण प्रमेयोंमें व्याप्त होकर रहनेवाले उपलम्भप्रमाणसे (केवलज्ञानसे) उसकी सिद्धि हो जाती है । परंतु वह उपलम्भ (केवलज्ञान) छद्मस्थोंमें नहीं पाया जाता है ।

विशेषार्थ— इन्द्रियप्रत्यक्षसे एकेन्द्रियोंमें वेदकी अनुपलब्धि सच्ची अनुपलब्धि नहीं है, क्योंकि, एकेन्द्रियोंमें यद्यपि इन्द्रियोंसे द्रव्यवेदका ग्रहण नहीं होता है तो भी सकल प्रमेयोंमें व्याप्त होकर रहनेवाले केवलज्ञानसे उसका ग्रहण होता है । अतः एकेन्द्रियोंमें इन्द्रिय प्रमाणके द्वारा द्रव्यवेदका अभाव नहीं किया जा सकता है ।

शंका— जो स्त्रीभाव और पुरुषभावसे सर्वथा अनभिज्ञ हैं ऐसे एकेन्द्रियोंके स्त्री और पुरुषविषयक अभिलाषा कैसे बन सकती है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जो पुरुष स्त्रीवेदसे सर्वथा अज्ञात है और भूगृहके भीतर वृद्धिको प्राप्त हुआ है, ऐसे पुरुषके साथ उक्त कथनका व्यभिचार देखा जाता है ।

विशेषार्थ— यदि यह मान लिया जाय कि एकेन्द्रिय जीव स्त्री और पुरुषसंबन्धी भेदसे सर्वथा अपरिचित होते हैं, इसलिये उनके स्त्री और पुरुषसंबन्धी अभिलाषा नहीं उत्पन्न हो सकती है, तो जो पुरुष जन्मसे ही एकान्तमें वृद्धिको प्राप्त हुआ है और जिसने स्त्रीको कभी भी नहीं देखा है उसके भी युवा होने पर स्त्रीविषयक अभिलाषा नहीं उत्पन्न होना चाहिये । परंतु उसके स्त्रीविषयक अभिलाषा देखी जाती है । इससे सिद्ध है कि स्त्री और पुरुषसंबन्धी अभिलाषाका कारण स्त्री और पुरुषविषयक ज्ञान नहीं है । किंतु वेदकर्मके उदयसे वह अभिलाषा उत्पन्न होती है । वह एकेन्द्रियोंके भी पाया जाता है, अतएव उनके स्त्री और पुरुषविषयक अभिलाषाके होनेमें कोई दोष नहीं आता है ।

शेष व्याख्यान सुगम है ।

अब वेदरहित जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

नववें गुणस्थानके सवेद भागके आगे जीव अपगतवेद होते हैं ॥ १०४ ॥

१ मू. विषयाभिलाषे. व विषयोऽभिलाषो.

२ अपगतवेदेपु अनिवृत्तिवादरात्रयोगकेवल्यन्तानि । स. सि. १. ८.

शेषगुणमधिष्ठिताः सर्वेऽपि प्राणिनोऽपगतवेदाः । न द्रव्यवेदस्याभावः,
तेनाधिकाराभावात्' । अधिकृतोऽत्र भाववेदः, ततस्तदभावादपगतवेदो नान्यथेति ।

वेदादेशप्रतिपादनार्थमाह—

णेरइया चदुसु ट्टाणेसु सुद्धा णवुंसयवेदा ॥ १०५ ॥

नारकेषु शेषवेदाभावः कुतोऽवसीयत' इति चेत् 'सुद्धा णवुंसयवेदा'
इत्यार्षात् । शेषवेदो तत्र किमिति न स्यातामिति चेन्न, अनवरतदुःखेषु तत्सत्त्वविरो-
धात् । स्त्रीपुरुषवेदावपि' दुःखमेवेति चेन्न, इष्टकापाकाग्निसमानसन्तापात् न्यूनतया'
तार्णकारीषाग्निसमानपुरुषस्त्रीवेदयोः सुखरूपत्वात् ।

तिर्यंगतौ वेदनिरूपणार्थमाह—

तिरिक्खा सुद्धा णवुंसगवेदा एइंदिय-प्पहुडि जाव चउरिंदिया

रि ॥ १०६ ॥

नववें गुणस्थानके सवेद भागसे आगे शेष गुणस्थानोंको प्राप्त हुए जीव अपगतवेद होते हैं । परंतु आगेके गुणस्थानोंमें द्रव्यवेदका अभाव नहीं होता है, क्योंकि, द्रव्यवेदका यहाँ अधिकार नहीं है । यहाँ पर तो भाववेदका अधिकार है । इसलिये भाववेदके अभावसे ही उन जीवोंको अपगतवेद जानना चाहिये, द्रव्यवेदके अभावसे नहीं ।

अब वेदका मार्गणाओंमें प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

नारकी जीव चारों ही गुणस्थानोंमें शुद्ध (केवल) नपुंसकवेदी होते हैं ॥ १०५ ॥

शंका— नारकियोंमें नपुंसकवेदको छोड़कर दूसरे वेदोंका अभाव है, यह किस प्रमाणसे जाना जाता है ?

समाधान— 'नारकी शुद्ध नपुंसकवेदी होते हैं, इस आर्षवचनसे जाना जाता है कि वहाँ अन्य दो वेद नहीं होते हैं ।

शंका— वहाँ पर शेष दो वेद क्यों नहीं होते हैं ?

समाधान— इसलिये नहीं होते कि निरन्तर दुःखी उनमें शेष दो वेदोंके सञ्जाव होनेमें विरोध आता है ।

शंका— स्त्री और पुरुषवेद भी दुख ही हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अवाकी अग्निके समान संतापसे न्यून होनेके कारण तृण और कण्डेकी अग्निके समान पुरुषवेद और स्त्रीवेद सुखरूप हैं ।

अब तिर्यचगतमें वेदोंके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

तिर्यच एकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर चतुरिन्द्रियतक शुद्ध नपुंसकवेदी होते हैं ॥ १०६ ॥

अत्र शेषवेदाभावः कुतोऽवसीयत इति चेत् 'सुद्धा णवुंसगवेदा' इत्यार्षात् ।
पिपीलिकानामण्डदर्शनात् ते नपुंसका इति चेन्न, अण्डानां गर्भे एवोत्पत्तिरिति
नियमाभावात् । विग्रहगतौ न वेदाभावः, तत्राप्यव्यक्तवेदस्य सत्त्वात् ।

शेषतिरिक्त्वां कियन्तो वेदा इति शङ्कितशिष्याशङ्कानिराकरणार्थमाह—

तिरिक्त्वा तिवेदा असण्णपंचिदिय-प्पहुडि जाव संजदासंजदा

त्ति ॥ १०७ ॥

त्रयाणां वेदानां क्रमेणैव प्रवृत्तिर्नाक्रमेण, पर्यायत्वात् । 'पर्यायत्वात् कषाय-
वसान्तर्मुहूर्तस्थायिनो वेदा, आजन्मनः आमरणत्तदुदयस्य सत्त्वात् । सुगममन्यत् ।

मनुष्यादेशप्रतिपादनार्थमाह—

मणुस्सा तिवेदा मिच्छाडिट्टि-प्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति ॥१०८॥

शंका— चतुरिन्द्रियतकके जीवोंमें शेष दो वेदोंका अभाव है, यह कैसे जाना जाय ?

समाधान— 'एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रियतक जीव शुद्ध नपुंसकवेदी होते हैं' इस
आरंभकालसे जाना जाता है कि इनमें शेष दो वेद नहीं होते हैं ।

शंका— चींटियोंके अण्डे देखे जाते हैं, इसलिये ये नपुंसकवेदी नहीं हो सकते हैं ?

समाधान— अण्डोंकी उत्पत्ति गर्भमें ही होती है, ऐसा कोई नियम नहीं है ।

विशेषार्थ— माता-पिताके शुक्र और शोणितसे गर्भधारणा होती है । इस प्रकार
गर्भधारणा चींटियोंके नहीं पाई जाती है । अतः उनके अण्डे गर्भज नहीं समझना चाहिये ।

विग्रहगतियोंमें भी वेदका अभाव नहीं है, क्योंकि, यहां पर भी अव्यक्तवेद पाया जाता है ।

शेष तिर्यच्चोंके कितने वेद होते हैं, इस प्रकारकी आशंकासे युक्त शिष्योंकी शंकाके दूर
करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

तिर्यच्च असंज्ञी पंचेन्द्रियसे लेकर संयतासंयत गुणस्थानतक तीनों वेदोंसे युक्त
होते हैं ॥ १०७ ॥

तीनों वेदोंकी प्रवृत्ति क्रमसे ही होती है युगपत् नहीं, क्योंकि, वेद पर्याय है । पर्याय-
स्वरूप होनेसे जैसे, विवक्षित कषाय केवल अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त रहती है, वैसे सभी वेद केवल एक
अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त ही नहीं रहते हैं, क्योंकि, जन्मसे लेकर मरणतक किसी एक वेदका उदय पाया
जाता है । शेष कथन सुगम है ।

मनुष्यगतिमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

मनुष्य मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थानतक तीनों वेदवाले
होते हैं ॥ १०८ ॥

संयतानां कथं त्रिवेदसत्त्वमिति चेन्न, अव्यक्तवेदसत्त्वापेक्षया तत्र तथोक्तेः^१।

सुगममन्यत् ।

वेदत्रयातीतजीवप्रतिपादनार्थमाह—

तेण परमवगदवेदा चेदि ॥ १०९ ॥

सर्वत्र च-शब्दः समुच्चये द्रष्टव्यः, एते च पूर्वोक्ताश्च सन्तीति । इति शब्दः

सर्वत्र समाप्तौ परिगृहीतव्यः । सुगममन्यत् ।

देवादेशप्रतिपादनार्थमाह—

देवा चदुसु ट्वाणेषु दुवेदा-इत्थिवेदा पुरिसवेदा ॥ ११० ॥

सानत्कुमारमाहेन्द्रादुपरि पुरुषवेदा एव । यत्नमन्तरेण तत्कथं लभ्यत इति

चेत् ? 'तेण परमवगदवेदा चेदि' अत्रतनः 'च' शब्दो यतोऽनुक्तसमुच्चयार्थश्च तस्मात्सानत्कुमारादीनां पुंवेदत्वमवसीयते । तिर्यङ्मनुष्यलब्ध्यपर्याप्ताः, सम्मूर्च्छम-पञ्चेन्द्रियाश्च नपुंसका एव । असंख्येयवर्षायुषस्तिर्यङ्मनुष्यो मनुष्याश्च द्विवेदा एव, न

शंका— संयतोंके तीनों वेदोंका सत्त्व कैसे संभव हैं ।

समाधान— नहीं, क्योंकि, अव्यक्तरूपसे वेदोंके अस्तित्वकी अपेक्षा वहां पर तीनों वेदोंकी सत्ता कही । शेष कथन सुगम है ।

अब तीनों वेदोंसे रहित जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

नववें गुणस्थानके सवेद भागसे आगेके सभी गुणस्थानवाले जीव अपगतवेद हैं ॥ १०९ ॥

सब जगह च शब्द समुच्चयरूप अर्थमें जानना चाहिये । अर्थात् वेदरहित और पहले कहे हुए वेदवाले जीव होते हैं । इति शब्द सब जगह समाप्तिरूप अर्थमें ग्रहण करना चाहिये । शेष कथन सुगम है ।

अब देवगतिमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं— ✓

देव चार गुणस्थानोंमें स्त्री और पुरुष इस प्रकार दो वेदवाले होते हैं ॥ ११० ॥

सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्पसे लेकर ऊपर सभी देव पुरुषवेदी ही होते हैं ।

शंका— यत्नके बिना अर्थात् बिना आगम प्रमाणके यह बात कैसे जानी जाय ?

समाधान— 'तेण परमवगदवेदा चेदि' इस सूत्रमें आया हुआ च शब्द अनुक्त

अर्थके समुच्चयके लिये है । इसलिये इससे यह जाना जाता है कि सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्पसे लेकर ऊपरके देव एक पुरुषवेदी ही होते हैं ।

उसी प्रकार, लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यच और मनुष्य तथा सम्मूर्छन पंचेन्द्रिय जीव नपुंसक ही होते हैं । असंख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य और तिर्यच ये दोनों स्त्री और पुरुष ये दो

नपुंसकवेदाः इत्यादयोऽनुक्तास्तत एवावसेयाः ।

वेदद्वारेण जीवपदार्थमभिधाय कषायमुखेन जीवसनासस्थाननिरूपणार्थमाह—
कसायाणुवादेण अत्थि क्रोधकसाई माणकसाई मायाकसाई
लोभकसाई अकसाई चेदि ॥ १११ ॥

कषायिसामान्येनैकत्वाद्बहूनामप्येकवचनं घटते । क्रोधकषायी मानकषायी
मायाकषायी लोभकषायी अकषायीति । अथवा नेदमेकवचनं 'एए सोहंति सिही णच्चंता
गिरिवरस्स सिहरम्मि' इत्येवमादिबहुत्वेऽपि एवंविधरूपोपलम्भादनेकान्तात् । अथ
स्यात्क्रोधकषायः मानकषायः मायाकषायः लोभकषायः अकषाय इति वक्तव्यम्,
कषायेभ्यस्तद्वतां भेदात् इति ? न, जीवेभ्यः पृथक् क्रोधाद्यनुपलम्भात् । तयोर्भेदाभावे
कथं भिन्नस्तन्निर्देशो' घटत इति चेन्न, अनेकान्ते तदविरोधात् । शब्दनयाश्रयणे क्रोधकषाय

वेदबाले होते हैं, नपुंसक नहीं होते हैं । इत्यादि अनुक्त अर्थ भी उसी च शब्दसे जान लेना ।

वेदमार्गणाके द्वारा जीव पदार्थको कहकर अब कषाय मार्गणाके द्वारा गुणस्थानोंके
निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

कषाय मार्गणाके अनुवादसे क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी, लोभकषायी और
अकषायी जीव होते हैं ॥ १११ ॥

कषायी— सामान्यकी अपेक्षा एक होनेके कारण बहुतका भी एकवचनके द्वारा कथन
बन जाता है । जैसे, क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी, लोभकषायी और अकषायी । अथवा,
'क्रोधकसाई' इत्यादि पद एकवचन नहीं हैं, क्योंकि, 'एए सोहंति सिही णच्चंता गिरिवरस्स
सिहरम्मि'— अर्थात् गिरिवरके शिखरपर नृत्य करते हुए ये मयूर शोभा पा रहे हैं । इत्यादि
प्रयोगोंमें बहुत्वकी विवक्षा रहने पर भी 'क्रोधकसाई' की तरह 'सिही' इस प्रकार रूपोंकी
उपलब्धि होती है । इसलिये इस प्रकारके प्रयोगोंमें अनेकान्त समझना चाहिये ।

शंका— सूत्रमें क्रोधकषायी आदिके स्थान पर क्रोधकषाय, मानकषाय, मायाकषाय,
लोभकषाय और अकषाय कहना चाहिये क्योंकि, कषायोंसे कषायवालोंमें भेद पाया जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, जीवोंसे पृथक् क्रोधादि कषायें नहीं पाई जाती है ।

शंका— यदि कषाय और कषायवान्में भेद नहीं है तो भिन्न रूपसे उनका निर्देश
कैसे बन सकता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अनेकान्तमें भिन्न निर्देशके बन जानेमें कोई विरोध नहीं
आता है ।

विशेषार्थ— यद्यपि कषायादि धर्म जीवको छोड़कर स्वतन्त्र नहीं पाये जाते हैं, इस-

इति भवति, तस्य शब्दपृष्ठतोऽर्थप्रतिपत्तिप्रवणत्वात् । अर्थनयाश्रयणे क्रोधकषायीति स्यात्, शब्दतोऽर्थस्य भेदाभावात् । कषायिचातुर्विध्यात्कषायस्य चातुर्विध्यमवगम्यत इति वा । तथोपदिष्टमेवानुवदनमनुवादः, कषायस्य अनुवादः कषायानुवादः, तेन कषायानुवादेन । प्रसिद्धस्यानुकथनमनुवादः । सिद्धासिद्धाश्रया हि कथामार्गा इति न्यायादनुवादोऽनर्थकः, अनधिगतार्थाधिगन्तृत्वाभावाद्वेति ? न, प्रवाहरूपेणापौरुषेयत्वतस्तीर्थकृदादयोऽस्य व्याख्यातार एव न कर्तार इति ज्ञापनार्थत्वात् । कः क्रोधकषायः ? रोष आमर्षः संरम्भः । को मानकषायः ? रोषेण विद्यातपोजात्यादिमदेन वान्यस्यानवनतिः । निकृतिर्वञ्चना मायाकषायः । गर्हा काङ्क्षा लोभः । उक्तं च—

लिये जीवसे वे अभिन्न हैं । फिर भी धर्म-धर्माभेदसे उनमें भेद बन जाता है, अतएव भिन्न निर्देश करनेमें कोई आपत्ति नहीं आती है ।

अथवा, शब्दनयका आश्रय करने पर 'क्रोधकषाय' इत्यादि प्रयोग बन जाते हैं, क्योंकि, शब्दनय शब्दानुसार अर्थज्ञान करानेमें समर्थ है । और अर्थनयका आश्रय करने पर 'क्रोधकषायी' इत्यादि प्रयोग होते हैं, क्योंकि, इस नयकी दृष्टिमें शब्दसे अर्थका कोई भेद नहीं है । अथवा, चार प्रकारके कषायवान् जीव होते हैं, इससे कषाय भी चार प्रकारकी हैं, ऐसा ज्ञान हो जाता है । इसलिये सूत्रमें 'क्रोधकषायी' इत्यादि पदोंका प्रयोग किया है ।

जिस प्रकार उपदेश दिया है उसीप्रकारके कथन करनेको अनुवाद करते हैं । कषायके अनुवादको कषायानुवाद कहते हैं । उससे अर्थात् कषायानुवादसे जीव पांच प्रकारके होते हैं । अथवा, प्रसिद्ध अर्थका अनुकूल कथन करनेको अनुवाद कहते हैं ।

शंका— 'कथामार्ग अर्थात् कथनपरंपराएँ प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध इन दोनोंके आश्रयसे प्रवृत्त होती हैं' इस न्यायके अनुसार यहां पर अनुवाद अर्थात् केवल प्रसिद्ध अर्थका अनुकूल कथन करना निष्फल है, इससे अनधिगत अर्थका ज्ञान नहीं होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यह कथन प्रवाहरूपसे अपौरुषेय होनेके कारण तीर्थकर आदि इसके केवल व्याख्यान करनेवाले ही हैं, कर्ता नहीं हैं, इस बातका ज्ञान करानेके लिये अनुवाद पदका कहना अनर्थक नहीं है ।

शंका— क्रोधकषाय किसे कहते हैं ?

समाधान— रोष, आमर्ष और संरम्भ इन सबको क्रोध कहते हैं ।

शंका— मानकषाय किसे कहते हैं ?

समाधान— रोषसे अथवा विद्या, तप और जाति आदिके मदसे अन्यके प्रति नञ् न होनेको मान कहते हैं ।

निकृति या वञ्चनाको मायाकषाय कहते हैं । गर्हा या आकांक्षाको लोभ कहते हैं, कहा

भी है—

सिल-पुढवि-भेद-धूली-जल-राई-समाणओ हवे कोहो ।

णारय-तिरिय-णरामर-गईसु उप्पायओ कमसो^१ ॥ १७४ ॥

सेलट्टि-कट्ट-वेत्तं णियभेएणणुहरंतओ माणो ।

णारय-तिरिय-णरामर-गइ-विसयुप्पायओ कमसो^२ ॥ १७५ ॥

वेलुवमूलोरब्भय-सिगे गोमुत्तएण खोरप्पे ।

सरिसी माया णारय-तिरिय-णरामरेसु जणइ जिअ^३ ॥ १७६ ॥

किमिराय-चक्क-तणु-मल-हरिद्-राएण सरिसओ लोहो ।

णारय-तिरिक्ख-माणुस-देवेसुप्पायओ कमसो^४ ॥ १७७ ॥

क्रोधकषाय चार प्रकारका है— पत्थरकी रेखाके समान, पृथिवीकी रेखाके समान, धूलिरेखाके समान और जलरेखाके समाने । ये चारों ही क्रोध क्रमसे नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगतिमें उत्पन्न करानेवाले होते हैं ॥ १७४ ॥

मान चार प्रकारका है— पत्थरके समान, हड्डीके समान, काठके समान तथा बेतके समान । ये चार प्रकारके मान क्रमसे नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगतिके उत्पादक हैं ॥ १७५ ॥

माया चार प्रकारकी है— बांसकी जड़के समान, मेढके सींगके समान, गोमूत्रके समान तथा खुरपाके समान । यह चार प्रकारकी माया क्रमसे जीवको नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगतिमें ले जाती है ॥ १७६ ॥

लोभकषाय चार प्रकारका है— क्रिमिरागके समान, चक्रमलके समान, शरीरके मलके समान और हल्दीके रंगके समान । यह क्रमसे नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव गतिका उत्पादक है ॥ १७७ ॥

१ प्रा. पं. १, १११ । गो. जी. २८४. तत्तच्छक्तियुक्तक्रोधकषायपरिणतो जीवः तत्तद्गत्युत्पत्ति-कारणतत्तदायुर्गंत्यानुपूर्व्यादिप्रकृतीर्बध्नातीत्यर्थः । अत्र राजिशब्दो रेखाथवाची न तु पक्तिवाची । यथा शिलादिभेदानां चिरतरचिरशीघ्रशीघ्रतरकालैर्विना अनुसन्धानं न घटते तथोत्कृष्टादिशक्तियुक्तक्रोधपरिणतो जीवोऽपि तथाविधकालैर्विना क्षमालक्षणसंधानाहो न स्यात् इत्युपमानोपमेययोः सादृश्यं संभवतीति तात्पर्यार्थः । जी. प्र. टी. णगपुढविबालुगोदयरईसरिसो चउव्विहो कोहो । कसायपहुड, जलरेणुपुढविपव्वयरईसरिसो चउव्विहो कोहो । क. ग्रं. १. १९.

२ प्रा. पं. १, ११२ । गो. जी. २८५. सेलघणअट्टिदाहअलदासमाणो हवदि माणो ॥ कसायपहुड-तिणिसलयाकट्टट्टियअसेलत्थंभोवमो माणो । क. ग्रं. १. १९.

३ प्रा. पं. १, ११३ । गो. जी. २८६. वंसीजणहुगसरिसी मेढविसाणसरिसी य गोमुत्ती । अवलेहणी-समाणा माया वि चउव्विहा भणिदा ॥ कसायपहुड. मायावलेह्णिगोमुत्तिभिडसिगघनवंसिमूलसमा । क. ग्रं. १. २०.

४ प्रा. पं. १, ११४ । गो. जी. २८७. किमिरागरत्तसमगो अक्खमलसमो य पंसुलेवसमो । हालिहवत्थसमगो लोभो वि चउव्विहो भणिदो ॥ कसायपहुड. लोहो हलिह्खंजणकइमकिमिरागसमाणो ।

सकलकषायाभावोऽकषायः । उक्तं च—

अप्य-परोभय-बाधण-बंधासंजम-णिमित्त-कोधादी ।

जेसि णत्थि कसाया अमला अकसाइणो जीवा' ॥ १७८ ॥

कषायाध्वानप्रतिपादनार्थमाह—

क्रोधकसाई माणकसाई मायकसाई एइंदिय-प्पहुडि जाव
अणियट्टि त्ति ॥ ११२ ॥

यतीनामपूर्वकरणादीनां कथं कषायास्तित्वमिति चेन्न, अव्यक्तकषायापेक्षया
तथोपदेशात् । सुगममन्यत् ।

लोभस्याध्वाननिरूपणार्थमाह—

संपूर्ण कषायोंके अभावको अकषाय कहते हैं । कहा भी है—

जिनके, स्वयं अपनेको दूसरेको तथा दोनोंको बाधा देने, बन्ध करने और असंयम
करनेमें निमित्तभूत क्रोधादि कषाय नहीं हैं, तथा जो बाह्य और आभ्यन्तर मूलसे रहित हैं
ऐसे जीवोंको अकषाय कहते हैं ॥ १७८ ॥

अब कषायमार्गणाके विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

एकेन्द्रियसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थानतक क्रोधकषायी, मानकषायी और माया-
कषायी जीव होते हैं ॥ ११२ ॥

शंका— अपूर्वकरण आदि गुणस्थानवाले साधुओंके कषायका अस्तित्व कैसे पाया
जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, अव्यक्त कषायकी अपेक्षा वहां पर कषायोंके अस्तित्वका
उपदेश दिया है । शेष कथन सुगम है ।

अब लोभकषायके विशेष प्ररूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

क. प्रं. १. २०.

१ प्रा. पं. १, ११६ । गो. जी. २८९. यद्यपि उपशांतकषायादिचतुर्गुणस्थानवतिनोऽपि अकषाया
अमलाश्च यथासंभवं द्रव्यभावमलरहिताः सन्ति तथापि तेषां गुणस्थानप्ररूपणयैव अकषायत्वसिद्धिरस्तीति
ज्ञातव्यं । तद्यथा, कस्यचिज्जीवस्य क्रोधादिकषायः स्वस्यैव बन्धनहेतुः स्वक्षिरोभिवातादिबाधाहेतुः हिसाद्य-
संयमहेतुश्च भवति । कस्यचिज्जीवस्य क्रोधादिकषायः परस्य, स्वशब्दादेर्बाधनबंधनासंयमहेतुर्भवति । कस्यचि-
त्कामुकादिजीवस्य क्रोधादिकषायः स्वपरयोरपि यथासंभवं बाधनबन्धनासंयमहेतुर्भवति, इति विभागः
लोकानुसारेण आगमानुसारेण च द्रष्टव्यः । जी. प्र. टी.

२ कषायानुवादेन क्रोधमानमायासु मिथ्यादृष्ट्यादीनि अनिवृत्तिबादरस्थानान्तानि सन्ति । स. सि. १. ८.

“ लोभकसाई एइंदिय-प्पहुडि जाव सुहुम-सांपराइय-सुद्धि-
संजदा त्ति ॥ ११३ ॥

शेषकषायोदयविनाशे लोभकषायस्य विनाशानुपपत्तेः लोभकषायस्य सूक्ष्म-
साम्परायोऽवधिः ।

अकषायोपलक्षितगुणप्रतिपादनार्थमाह—

अकसाई चदुसु ट्टाणेसु अत्थि उवसांतकसाय-वीयराय-छदु-
मत्था खीणकसाय-वीयराय-छदुमत्था सजोगिकेवली अजोगिकेवलि
त्ति ॥ ११४ ॥

उपशान्तकषायस्य कथमकषायत्वमिति चेत् ? कथं च न भवति ? द्रव्य-
कषायस्यानन्तस्य सत्त्वात् । न, कषायोदयाभावापेक्षया तस्याकषायत्वोपपत्तेः ।
सुगममन्यत् । कषायस्यादेशः किमिति नोक्तमिति चेन्न, विशेषाभावतोऽनेनैव
वसार्थत्वात् ।

लोभकषायसे युक्त जीव एकेन्द्रियोसे लेकर सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयत गुणस्थानतक
होते हैं ॥ ११३ ॥

शेष कषायोंके उदयके नाश हो जाने पर उसी समय लोभकषायका विनाश बन नहीं
सकता है, इसलिये लोभकषायकी अन्तिम मर्यादा सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान है ।

कषायरहित जीवोंसे उपलक्षित गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—
कषायरहित जीव उपशान्त-कषाय-वीतराग-छद्मस्थ, क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ,
सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन चार गुणस्थानोंमें होते हैं ॥ ११४ ॥

शंका— उपशान्तकषाय गुणस्थानको कषायरहित कैसे कहा ?

प्रतिशंका— यह कषायरहित क्यों नहीं हो सकता है ?

शंका— वहां अनन्त द्रव्यकषायका सद्भाव होनेसे उसे कषायरहित नहीं कह
सकते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, कषायके उदयके अभावकी अपेक्षा उसमें कषायोंसे
रहितपना बन जाता है । शेष कथन सुगम है ।

शंका— कषायोंका विशेष (मार्गणाओंमें) कथन क्यों नहीं किया ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, कषायोंके सामान्य कथनसे उनका मार्गणाओंमें कथन
करनेमें कोई विशेषता नहीं है, इसीसे उसका ज्ञान हो जाता है, इसलिये आदेश प्ररूपणा नहीं की ।

१ लोभकषाये तान्येव सूक्ष्मसाम्परायस्थानाधिकानि । स. सि. १. ८.

२ अकषायः उपशान्तकषायः क्षीणकषायः सशोककेवली अयोगकेवली चेदि । स. सि. १. ८.

ज्ञानद्वारेण जीवपदार्थनिरूपणार्थमाह—

णाणाणुवादेण अत्थि मदि-अण्णाणी सुद-अण्णाणी विभंग-
णाणी आभिणिबोहियणाणी सुदणाणी ओहिणाणी मणपज्जवणाणी
केवलणाणी चेदि ॥ ११५ ॥

अत्रापि पूर्ववत्पर्यायपर्यायिणोः कथञ्चिदभेदात्पर्यायिग्रहणेऽपि पर्यायस्य
ज्ञानस्यैव ग्रहणं भवति । ज्ञानिनां भेदाद् ज्ञानभेदोऽवगम्यत इति वा पर्यायिद्वारेणो-
पदेशः । ज्ञानानुवादेन कथमज्ञानस्य ज्ञानप्रतिपक्षस्य सम्भव इति चेन्न, मिथ्यात्व-
समवेतज्ञानस्यैव ज्ञानकार्याकरणादज्ञानव्यपदेशात् पुत्रस्यैव पुत्रकार्याकरणात्पुत्र-
व्यपदेशवत् । किं तद् ज्ञानकार्यमिति चेत्तत्त्वार्थं रुचिः प्रत्ययः श्रद्धा चारित्रस्पर्शनं च ।
अथवा प्रधानपदमाश्रित्याज्ञानानामपि ज्ञानव्यपदेशः आम्रवनमिति यथा । जानातीति
ज्ञानं साकारोपयोगः । अथवा जानात्यज्ञासीज्ज्ञास्यत्यनेनेति वा ज्ञानं ज्ञानावरणीय-
कर्मणः एकदेशप्रक्षयात् समुत्पन्नात्मपरिणामः क्षायिको वा । तदपि ज्ञानं द्विविधम्—

अब ज्ञानमार्गणाके द्वारा जीव पदार्थके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

ज्ञानमार्गणाके अनुवादेसे मति-अज्ञानी श्रुताज्ञानी, विभंगज्ञानी, आभिनिबोधिकज्ञानी,
श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी जीव होते हैं ॥ ११५ ॥

यहां पर भी पहलेकी तरह पर्याय और पर्यायीमें कथञ्चित् अभेद होनेसे पर्यायीके
ग्रहण करने पर भी पर्यायरूप ज्ञानका ही ग्रहण होता है । अथवा, ज्ञानी कितने प्रकारके होते हैं
इस बातके समझ लेनेसे ज्ञानके भेदोंका ज्ञान हो जाता है । इसलिये पर्यायीके कथनद्वारा यहां
पर उपदेश दिया है ।

शंका— ज्ञान मार्गणाके अनुवादेसे ज्ञानके प्रतिपक्षभूत अज्ञानका ज्ञानमार्गणामें कैसे
संभव है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, मिथ्यात्वसहित ज्ञानको ही ज्ञानका कार्य नहीं करनेसे
अज्ञान कहा है । जैसे, पुत्रोचित कार्यको नहीं करनेवाले पुत्रको ही अपुत्र कहा जाता है ।

शंका— वह ज्ञानका कार्य क्या है ?

समाधान— तत्त्वार्थमें रुचि, निश्चय, श्रद्धा और चारित्रका धारण करना ज्ञानका
कार्य है । अथवा, प्रधानपदकी अपेक्षा अज्ञानको भी ज्ञान कहा जाता है । जैसे, जिस वनमें
आमके वृक्षोंकी बहुलता होती है उसे आम्रवन कहा जाता है ।

जो जानता है उसे ज्ञान कहते । अर्थात् साकार उपयोगको ज्ञान कहते हैं । अथवा,
जिसके द्वारा यह आत्मा जानता है, जानता था अथवा जानेगा, ऐसे ज्ञानावरण कर्मके एकदेश
क्षयसे अथवा संपूर्ण ज्ञानावरण कर्मके क्षयसे उत्पन्न हुए आत्माके परिणामको ज्ञान कहते हैं ।

प्रत्यक्षं परोक्षमिति । परोक्षं द्विविधम्— मतिः श्रुतमिति । तत्र पञ्चभिरिन्द्रियैर्मनसा च यदर्थग्रहणं तन्मतिज्ञानम् । तदपि चतुर्विधम्— अवग्रह ईहा अवायो धारणा चेति । विषयविषयिसन्निपातसमनन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः^१ । अवग्रहीतस्यार्थस्य विशेषाकाङ्क्षणमीहा । ईहितस्यार्थस्य निश्चयोऽवायः । कालान्तरेऽप्यविस्मरणसंस्कारजनकं ज्ञानं धारणा^२ । अथवा चतुर्विंशतिविधं मतिज्ञानम् । तद्यथा, चाक्षुषं^३ चतुर्विधम्— मतिज्ञानमवग्रहः ईहावायो धारणा चेति । एवं शेषाणामपि इन्द्रियाणां मनसश्च वाच्यम् । अथवा अष्टाविंशतिविधम् । तद्यथा, अवग्रहो द्विविधः— अर्थावग्रहो व्यञ्जनावग्रहश्चेति । कोऽर्थावग्रहश्चेत् ? अप्राप्तार्थग्रहणमर्थावग्रहः ।

वह ज्ञान दो प्रकारका है— प्रत्यक्ष और परोक्ष । परोक्षके दो भेद हैं— मतिज्ञान और श्रुतज्ञान । उनमें पांच इन्द्रियों और मनसे जो पदार्थका ग्रहण होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं । वह मतिज्ञान चार प्रकारका है— अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा । विषय और विषयीके संबन्ध होनेके अनन्तर समयमें जो प्रथम ग्रहण होता है उसे अवग्रह कहते हैं । अवग्रहसे ग्रहण किये गये पदार्थके विशेषको जाननेके लिये अभिलाषरूप जो ज्ञान होता है उसे ईहा कहते हैं । ईहाके द्वारा जाने गये पदार्थके निश्चयरूप ज्ञानको अवाय कहते हैं । कालान्तरमें भी विस्मरण न होनेरूप संस्कारके उत्पन्न करनेवाले ज्ञानको धारणा कहते हैं ।

अथवा, मतिज्ञान चौबीस प्रकारका है । इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है— चक्षु इन्द्रियसे उत्पन्न होनेवाला मतिज्ञान चार प्रकारका है अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इसीप्रकार शेष चार इन्द्रियोंसे और मनसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान भी अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणाके भेदसे चार चार प्रकारका है इस प्रकार कथन करना चाहिये । इस प्रकार ये सब मिलकर चौबीस भेद हो जाते हैं । अथवा, मतिज्ञान अठ्ठाईस प्रकारका है । उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है । अवग्रह दो प्रकारका है— अर्थावग्रह और व्यञ्जनावग्रह ।

शंका— अर्थावग्रह किसे कहते हैं ?

समाधान— अप्राप्त अर्थके ग्रहण करनेको अर्थावग्रह कहते हैं ।

१ विषयविषयिसन्निपातसमयानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः । स. सि. १. १५. विषयविषयिसन्निपाते सति दर्शनं भवति तदनन्तरमर्थस्य ग्रहणमवग्रहः । त. रा. वा. १. १५. विषयविषयिसन्निपातानन्तरमाद्यं ग्रहणमवग्रहः । विषयस्तावद् द्रव्यपर्यायात्मार्थः विषयिणो द्रव्यभावेन्द्रियं अर्थग्रहणं योग्यतालक्षणं तदनन्तरभूतं सन्मात्रं दर्शनं स्वविषयव्यवस्थापनविकल्पमुत्तरं परिणामं प्रतिपद्यतेऽवग्रहः । लघीयस्त्र. स्वो. वृ. लि. पृ. २ प्र. पं. १-३ । तत्राव्यक्तं यथास्वमिन्द्रियैर्विषयाणामालोचनावधारणमवग्रहः । तत्त्वार्थ. भा. १. १५. विषयविषयिसन्निपातानन्तरसमुद्भूतसत्तामात्रगोचरदर्शनाज्जातमाद्यमवान्तरसामान्याकारविशिष्टवस्तुग्रहणमवग्रहः । प्रमाणनयत. २. ७. अक्षार्थयोगे दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमवग्रहः । प्रमाणमी. १. १. २७.

२ एषां विशेषार्थपरिज्ञानाय विशेषावश्यकभाष्यं १७९, तः ३५०. गाथान्तं यावद् द्रष्टव्यम् । उगमहो एकं समयं ईहावाया मुहुत्तमंतं तु । कालमसंखं संखं च धारणा होई णायव्वा ॥ आ. नि. ४.

३ मु. चाक्षुषं च ।

को व्यञ्जनावग्रहः ? प्राप्तार्थग्रहणं व्यञ्जनावग्रहः^१ । तत्र चक्षुर्मनसोरथाविग्रह एव, तयोः प्राप्तार्थग्रहणानुपलम्भात् । शेषाणामिन्द्रियाणां द्वावप्यत्रग्रहौ भवतः । शेषेन्द्रियेष्व-प्राप्तार्थग्रहणं नोपलभ्यत इति चेन्न, एकेन्द्रियेषु योग्यदेशस्थितनिधिषु निधिस्थितप्रदेश-

शंका— व्यंजनावग्रह किसे कहते हैं ?

समाधान— प्राप्त अर्थके ग्रहण करनेको व्यंजनावग्रह कहते हैं ।

उनमें, चक्षु और मनसे अर्थाविग्रह ही होता है, क्योंकि, इन दोनोंमें प्राप्त अर्थका ग्रहण नहीं पाया जाता है । शेष चारों ही इन्द्रियोंके अर्थाविग्रह और व्यंजनावग्रह ये दोनों भी पाये जाते हैं ।

शंका— शेष इन्द्रियोंमें अप्राप्त अर्थका ग्रहण नहीं पाया जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, एकेन्द्रियोंमें उनका योग्य देशमें स्थित निधियोंके होने पर जिस प्रदेशमें निधिस्थित है उस प्रदेशमें ही अंकुरोंका फैलाव अन्यथा बन नहीं सकता है,

१ व्यञ्जनमव्यक्तं शब्दादिजातं तस्यावग्रहो भवति । × × ननु अवग्रहग्रहणमुभयत्र तुल्यं तत्र किंकृतोऽयं विशेषः ? अर्थाविग्रहव्यञ्जनावग्रहयोर्व्यक्ताव्यक्तकृतो विशेषः । कथम् ? अभिनवशरावादीकरणवत् । यथा जलकणद्वित्रिसिक्तः शरावोऽभिनवो नार्दीभवति, स एव पुनः पुनः सिच्यमानः शनैस्तिम्यते, एवं श्रोत्रादिष्विन्द्रियेषु शब्दादिपरिणताः पुद्गला द्वित्र्यादिषु समयेषु गृह्यमाणा न व्यक्तीभवन्ति, पुनः पुनरवग्रहे सति व्यक्तीभवन्ति । अतो व्यक्तग्रहणात्प्राग्व्यञ्जनावग्रहः । व्यक्तग्रहणमर्थाविग्रहः । स. सि. १. १८ । त. रा. वा. १. ५८. वा. २. अव्यक्तमत्र शब्दादिजातं व्यंजनमिष्यते । तस्यावग्रह एवेति नियमोऽव्यक्षवद्गतः ॥ त. श्लो. वा. १. १८. २. × × इन्द्रियैः प्राप्तार्थविशेषग्रहणं व्यंजनावग्रहः । तैरप्राप्तार्थविशेषग्रहणं अर्थाविग्रह इत्यर्थः । व्यंजनं अव्यक्तं शब्दादिजातं इति तत्त्वार्थविवरणेषु प्रोक्तं कथमनेन व्याख्यानेन सह संगतमिति चेदुच्यते, विगतं-अंजनं-अभिव्यक्तित्यस्य तद् व्यंजनं । व्यज्यते मक्ष्यते प्राप्यते इति व्यंजनं । अंजु इतिव्यक्ति-मक्षणेऽपि व्यक्तिसंक्षणार्थयोग्रहणात् । शब्दाद्यर्थः श्रोत्रादीन्द्रियेण प्राप्तोऽपि यावन्नाभिव्यक्तस्तावद् व्यंजन-मित्युच्यते एकवारजलकणसिक्तनूतनशराववत् । पुनरभिव्यक्तौ सत्यां स एवार्थो भवति । गो. जी., जी. प्र., टी. ३०७. × × अर्थ्यते इत्यर्थः अर्थस्यावग्रहणं अर्थाविग्रहः, सकलरूपादिविशेषनिरपेक्षानिर्द्वैश्यासामान्यमात्ररूपार्थ-ग्रहणमेकसामयिकमित्यर्थः । तथा व्यज्यते अनेनार्थः प्रदीपेनेव घट इति व्यञ्जनं, तच्चोपकरणेन्द्रियस्य श्रोत्रादेः शब्दादिपरिणतद्रव्याणां च परस्परं सम्बन्धः, सम्बन्धे हि सति सोऽर्थः शब्दादिरूपः श्रोत्रादीन्द्रियेण व्यंजयितुं शक्यते नान्यथा, ततः सम्बन्धो व्यंजनं । × × व्यंजनेन-सम्बन्धेनावग्रहणं सम्बन्धमानस्य शब्दादिरूपस्यार्थ-स्याव्यक्तरूपः परिच्छेदो व्यंजनावग्रहः । अथवा व्यज्यन्ते इति व्यंजनानि, कृद्बहुलमिति वचनात् कर्मण्यनट्, व्यंजनानां शब्दादिरूपतया परिणतानां द्रव्याणामुपकरणेन्द्रियसम्प्राप्तानामवग्रहः अव्यक्तरूपः परिच्छेदो व्यञ्जनावग्रहः । × × इयमत्र भावना उपकरणेन्द्रियशब्दादिपरिणतद्रव्यसम्बन्धे प्रथमसमायादारम्यार्थाविग्रहात् प्राक् या सप्तमत्तमूर्च्छितादिपुरुषाणामिव शब्दादिद्रव्यसम्बन्धमात्रविषया काचिदव्यक्ता ज्ञानमात्रा सा व्यञ्जनावग्रहः, स चान्तमूर्हत्प्रमाणः । नं. सू. पृ. १६८. २ कोर्थाविग्रहः व्यंजनावग्रहो वा ? अप्राप्तार्थग्रहणमर्थाविग्रहः । प्राप्तार्थग्रहणं व्यंजनावग्रहः । न स्पष्टास्पष्टग्रहणोऽर्थव्यंजनावग्रहौ । तयोश्चक्षुर्मनसोरपि सत्त्वतस्तत्र व्यंजनावग्रहस्य सत्त्वप्रसंगादस्तुचेन्न, न चक्षुरनिन्द्रियाम्यामिति तत्र व्यंजनावग्रहस्य प्रतिषेधात् । न शनैर्ग्रहणं व्यंजनाव-

एव प्रारोहमुक्त्यन्यथानुपपत्तितः स्पर्शनस्याप्राप्तार्थग्रहणसिद्धेः । शेषेन्द्रियाणामप्राप्तार्थ-
ग्रहणं नोपलभ्यत इति चेन्माभूदुपलम्भस्तथापि तदस्त्येव । यद्युपलम्भस्त्रिकालगोचरम-
शेषं पर्यच्छेत्स्यदनुपलब्धस्याभावोऽभविष्यत् । न चैवमनुपलम्भात् । न कात्स्न्येना-
प्राप्तमर्थस्यानिःसृतत्वमनुवृत्तत्वं वा ब्रूमहे यतस्तदवग्रहादिनिदानमिन्द्रियाणामप्राप्य-

इसलिये स्पर्शन इन्द्रियके अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना सिद्ध हो जाता है ।

शंका— इसप्रकार यदि स्पर्शन इन्द्रियके अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना बन जाता है तो बन जाओ । फिर भी शेष इन्द्रियोंके अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना नहीं पाया जाता है ?

समाधान— यदि शेष इन्द्रियोंसे अप्राप्त अर्थका ग्रहण करना नहीं पाया जाता है तो मत पाया जावे । तो भी वह है ही, क्योंकि, यदि हमारा ज्ञान त्रिकालगोचर समस्त पदार्थोंको जाननेवाला होता तो अनुपलब्धका अभाव सिद्ध हो जाता, अर्थात् हमारा ज्ञान यदि सभी पदार्थोंको जानता तो कोई भी पदार्थ उसके लिये अनुपलब्ध नहीं रहता । किंतु हमारा ज्ञान तो त्रिकालवर्ती पदार्थोंको जाननेवाला है नहीं, क्योंकि सर्व पदार्थोंको जाननेवाले ज्ञानकी हमारे उपलब्धि ही नहीं होती है । इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि शेष इन्द्रियाँ अप्राप्त पदार्थको ग्रहण करती हैं इस बातको यदि हम न भी जान सकें, तो भी उसका निषेध नहीं किया जा सकता है ।

दूसरे, पदार्थके पूरी तरहसे अनिःसृतपनेको और अनुवृत्तपनेको हम अप्राप्त नहीं कहते हैं । जिससे उनके अवग्रहादिका कारण इन्द्रियोंका अप्राप्यकारीपना होवे ।

ग्रहः चक्षुर्मनसोरपि तदस्तित्वतः तयोर्व्यजनावग्रहस्य सत्त्वप्रसंगात् । न च तत्र शनैर्ग्रहणमसिद्धमक्षिप्रभंगाभावे
अष्टचत्वारिचक्षुर्मतिज्ञानभेदस्यासत्त्वप्रसंगात् । न श्रोत्रादीन्द्रियचतुष्टयेऽर्थावग्रहः तत्र प्राप्तस्पोवाथस्य ग्रहणो-
पलंभात् इति चेन्न, वनस्पतिष्वप्राप्तग्रहणस्योपलंभात् । तदपि कुतोऽवगम्यते ? दूरस्थनिधिमुद्दिश्य प्रारोह-
मुक्त्यन्यथानुपपत्तेः । चत्वारि धणुसयाइं चउसट्टसयं च तह य धणुहाणं । पासे रसे य गंधे दुगुणा दुगुणा
असणि ति ॥ × × इति आगमाद्वा तेषामप्राप्तार्थग्रहणमवगम्यते । नवयोजनान्तरस्थितपुद्गलद्रव्यस्कंधैकदेश-
मागम्येन्द्रियसंबन्धं जानंतीति केचिदाचक्षते तन्न घटते, अध्वानप्ररूपणायाः वैफल्यप्रसंगात् । न चाध्वानं
द्रव्यात्पीयस्त्वस्य कारणं स्वमहत्त्वापरित्यागेन भूयो योजनानि संचरज्जीमूतत्रातोपलम्भतोऽनेकांतात् । किंच
यदि प्राप्ताथं ग्राहिण्येवेन्द्रियाण्यध्वाननिरूपणमंतरेण, द्रव्यप्रमाणप्ररूपणमेवाकरिष्यन्न चैव तथानुपलंभात् ॥
किं च नवयोजनांतरस्थिताग्निविषाम्यां तीव्रस्पर्शरसक्षयोपशमानां दाहमरणे स्यातां प्राप्ताथं ग्रहणात् ताव-
न्मात्राध्वानस्थिताशुचिभक्षणतद्गंधजनितदुःखे च तत एव स्यातां । पुट्ठं सुणेइ सद्ं अपुट्ठं चैय पस्सदे ख्वं ।
गंधं रसं च फासं बद्धं पुट्ठं च जाणादि ॥ इत्यस्मात् सूत्रात्प्राप्तार्थग्राहित्वमिन्द्रियाणामवगम्यत इति चेन्न,
अर्थावग्रहस्य लक्षणाभावतः खरविषाणस्येवाभावप्रसंगात् । कथं पुनरस्याः गाथाया अर्थो व्याख्यायते ? उच्यते,
रूपमस्पष्टमेव चक्षुर्गृह्णाति च-शब्दान्मनश्च । गंधं रसं स्पर्शं च बद्धं स्वकं स्वकेन्द्रियेषु नियमितं पुट्ठं स्पष्टं
च-शब्दादस्पष्टं च शेषेन्द्रियाणि गृह्णाति । पुट्ठं सुणेइ सद्ं इत्यत्राषि बद्धं च शब्दौ योज्यौ अन्यथा
दुर्व्याख्यानतापत्तेः । धवला ६९८-६९९.

कारित्वमिति । किं तर्हि ? कथं चक्षुरनिन्द्रियाभ्यामनिःसृतानुक्तावग्रहादिः, तयोरपि प्राप्यकारित्वप्रसङ्गादिति चेन्न, योग्यदेशावस्थितेरेव प्राप्तेरभिधानात् । तथा च रसगन्ध-स्पर्शानां स्वग्राहिभिरिन्द्रियैः स्पष्टं स्वयोग्यदेशावस्थितिः शब्दस्य च । रूपस्य चक्षुषाभिमुखतया, न तत्परिच्छेदिना चक्षुषा प्राप्यकारित्वमनिःसृतानुक्तावग्रहादि-सिद्धेः । किं च तेनाभिहितेनानुक्तावग्रहः, यथा दध्नो गन्धग्रहणकाल एव तद्रसोपलम्भः । नियमितधर्मविशिष्टवस्तुनो वस्त्वेकदेशस्य वा ग्रहणमुक्तावग्रहः । सोऽग्रमित्यादि ध्रुवावग्रहः । न सोऽग्रमित्याद्यध्रुवावग्रहः । एवमीहादीनामपि योज्यम् । सर्वाण्येतानि मतिज्ञानम् ।

शब्दधूमादिभ्योऽर्थान्तरावगमः श्रुतज्ञानम्' । तत्र शब्दलिङ्गजं

शंका— तो फिर क्या है ? और यदि पूरी तरहसे अनिःसृतत्व और अनुक्तत्वको अप्राप्त नहीं कहते हो तो चक्षु और मनसे अनिःसृत और अनुक्तके अवग्रहादि कैसे हो सकेंगे ? यदि चक्षु और मनसे भी पूर्वोक्त अनिःसृत और अनुक्तके अवग्रहादि माने जावेंगे तो उन्हें भी प्राप्यकारित्वका प्रसंग आ जायगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, इन्द्रियोंके ग्रहण करनेके योग्य देशमें पदार्थोंकी अवस्थितिको ही प्राप्ति कहते हैं । ऐसी अवस्थामें रस, गन्ध और स्पर्शका उनको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियोंके साथ अपने अपने योग्य देशमें अवस्थित रहना स्पष्ट ही है । शब्दका भी उसको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियके साथ अपने योग्य देशमें अवस्थित रहना स्पष्ट है । उसी प्रकार रूपका चक्षुके साथ अभिमुखरूपसे अपने देशमें अवस्थित रहना स्पष्ट है, क्योंकि, रूपको ग्रहण करनेवाले चक्षुके साथ रूपका प्राप्यकारीपना नहीं बनता है । इस प्रकार अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंके अवग्रहादिक सिद्ध हो जाते हैं ।

उपर कहे हुए कथनानुसार अनुक्तावग्रह यह हैं । जैसे, दहीके गन्धके ग्रहण करनेके कालमें ही दहीके रसकी भी उपलब्धि हो जाती है । निश्चित धर्मसे युक्त वस्तुका अथवा वस्तुके एकदेशका ग्रहण करना उक्तावग्रह है । ' वह यही है ' इत्यादि प्रकारसे ग्रहण करनेको ध्रुवावग्रह कहते हैं । ' वह यह नहीं है ' इत्यादि प्रकारसे ग्रहण करनेको अध्रुवावग्रह कहते हैं । इसी प्रकार ईहादिसंबन्धी उक्त अनुक्त आदिको भी जानना चाहिये । इन सभी भेदोंको मतिज्ञान कहते हैं ।

शब्द और धूमादिक लिङ्गके द्वारा जो एक पदार्थसे दूसरे पदार्थका ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं । उनमें शब्दके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाला श्रुतज्ञान दो प्रकारका है, अंग

१ अवग्रहादिधारणापेरंतमदिणाणेण अवगयत्थादी अण्णत्थावगमो सुदणाणं । तं च दुविहं, सद्दल्लिगजं असद्दल्लिगजं चेदि । धूमल्लिगदो जलणावगमो असद्दल्लिगजो । अवरो सद्दल्लिगजो । किं लक्खणं लिगं ? अण्णहाणुववत्ति लक्खणं । धवला. अ. पृ. ११७१.

द्विविधमङ्गमङ्गबाह्यमिति । अङ्गश्रुतं द्वादशविधम् । अङ्गबाह्यं चतुर्दशविधम् । प्रत्यक्षं त्रिविधम्^१, अवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं केवलज्ञानमिति । साक्षान्मूर्ताशेषपदार्थ-परिच्छेदकमवधिज्ञानम् । साक्षान्मनः समादाय मानसार्थानां साक्षात्करणं मनःपर्यय-ज्ञानम्^२ । साक्षात्त्रिकालगोचराशेषपदार्थपरिच्छेदकं केवलज्ञानम्^३ । मिथ्यात्वसमवेत-मिन्द्रियजज्ञानं मत्यज्ञानम् । तेनैव समवेतः शाब्दः प्रत्ययः श्रुताज्ञानम् । तत्समवेत-मवधिज्ञानं विभङ्गज्ञानम् । उक्तं च---

विस-जंत-कूड-पंजर-बंधादिसु विणुवदेस-करणेण ।

जा खलु पवत्तइ मदी मदि-अण्णाणे त्ति तं बेत्ति^४ ॥ १७९ ॥

आभीयमासुरक्खा भारह-रामायणादि-उवएसा ।

तुच्छा असाहणीया सुद-अण्णाणे त्ति तं बेत्ति^५ ॥ १८० ॥

और अंगबाह्य । अंगश्रुत बारह प्रकारका है और अंगबाह्य चौदह प्रकारका है ।

प्रत्यक्षज्ञानके तीन भेद हैं, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान । संपूर्ण मूर्त पदार्थोंको साक्षात् जाननेवाले ज्ञानको अवधिज्ञान कहते हैं । मनका आश्रय लेकर मनोगत पदार्थोंके साक्षात्कार करनेवाले ज्ञानको मनःपर्ययज्ञान कहते हैं । त्रिकालके विषयभूत समस्त पदार्थोंको साक्षात् जाननेवाले ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं ।

इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले मिथ्यात्वसमवेत ज्ञानको मत्यज्ञान कहते हैं । शब्दके निमित्तसे जो एक पदार्थसे दूसरे पदार्थका मिथ्यात्वसमवेत ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं । मिथ्यादर्शनसमवेत अवधिज्ञानको विभंगज्ञान कहते हैं । कहा भी है—

दूसरेके उपदेश विना विष, यन्त्र, कूट, पंजर तथा बन्ध आदिके विषयमें जो बुद्धि प्रवृत्त होती है उसको मत्यज्ञान कहते हैं ॥ १७९ ॥

चौरशास्त्र, हिसाशास्त्र, भारत और रामायण आदिके तुच्छ और साधन करनेके अयोग्य उपदेशोंको श्रुतज्ञान कहते हैं ॥ १८० ॥

१ अपरायत्तं नाणं पच्चक्खं तिविहमोहिमाईयं । जं परतो आयत्तं तं पारोक्खं ह्वइ सव्वं ॥ बृ. क. सू. २९.

२ तं मणपज्जवनाणं जेण वियाणाइ सन्निजीवाणं । दट्ठं मणिज्जमाणे मणदव्वे माणसं भावं । बृ. क. सू. ३५.

३ दव्वादिकसिणविसयं केवलमेगं तु केवलज्ञाणं । अणिवारियवावारं अणंतमविकप्पियं नियतं । बृ. क. सू. ३८.

४ प्रा. पं. १, ११८ । गो. जी. ३०३. उपदेशपूर्वकत्वे श्रुतज्ञानत्वप्रसंगात् । उपदेशक्रियां विना

यदीदृशमूहापोहविकल्पात्मकं हिसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहकारणं आतंरौद्रध्यानकारणं शल्यदंडगारवसंज्ञाद्यप्रशस्त-परिणामकारणं च इन्द्रियमनोजनिताविशेषग्रहणरूपं मिथ्याज्ञानं तन्मत्यज्ञानमिति निश्चेतव्यम् । जी. प्र. टी.

५ प्रा. पं. १, ११९ । गो. जी. ३०४. आ सभंता-द्वीताः आभीताः चोराः तच्छास्त्रमप्याभीतं ।

असवः प्राणाः तेषां रक्षा येभ्यः ते असुरक्षाः तलवराः तेषां शास्त्रमासुरक्षं । आदिशब्दाद्यद्यन्मिथ्यादर्शनदूषित-सर्वथैकान्तवादिस्वेच्छाकल्पितकथाप्रबंधभुवनकोशहिसायागादिगृहस्थकर्म त्रिदंडं जटाधारणादितपःकर्मषोड-शपदार्थषट्पदार्थभावनाविधिनियोगभूतचतुष्टयपंचविंशतितत्त्वब्रह्माद्वैतचतुरार्यसत्यविज्ञानाद्वैतसर्वशून्यत्वादि-प्रतिपादकागमाभासजनित श्रुतज्ञानाभासं तत्सर्वं श्रुताज्ञानमिति निश्चेतव्यं, दृष्टेष्टाविरुद्धार्थविषयत्वात् जी. प्र. टी.